सिद्धि के सोपान

['अपूर्व अवसर' का भाववाही रसप्रद विवेचन]

पद्यकर्ता

श्रीमद् राजचन्द्रजी

विवेचक (गुजराती में)

मुनिश्री संतबालजी महाराज

हिन्दी-अनुवादक

मुनि नेमिचन्द्र

प्रकाशक

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

पुस्तक का नाम :
सिद्धि के सोपान
पद्यकर्ता :
श्रीमद् राजचन्द्र
विवेचक :
मुनि श्री संतबालजी म०
o
हिन्दी अनुवादक
मुनि नेमिचन्द्र
o
प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ
लोहामंडी, आगरा
o
अक्टूबर १९६३
प्रथम संस्करण, ११०० प्रतियाँ
o
मूल्य : १ रु० ७५ न० पै०
मुद्रक :
नवीन प्रेस, दरियागंज, दिल्ली
o
प्राप्तिस्थल :
(१) सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा
(२) महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर
हठीभाई की वाड़ी, अहमदाबाद-१

ॐ मैया

प्रस्तावना

प्रयोजन

मैं जिसे 'प्रिय साधक' के नाम से सम्बोधित करता हूं, उस एक साधक ने मेरे बाघजीपुरा चातुर्मासकाल मे 'अपूर्व अवसर' पर मुझसे 'विवेचन' लिख देने की माँग की। उस समय श्रीमद् भगवतीसूत्र के सटिप्पण अनुवाद पर मेरा विशेष ध्यान था। परन्तु मैं प्रति सप्ताह शनिवार को पत्र लिखता था। एक-दो पद्यो पर विवेचन लिख चुका हूँगा, फिर तो शनिवार के सिवाय एक और कभी दो दिन प्रति सप्ताह मिलने से लगभग नौ पद्य लिखे गये होगे कि यह काम ठप्प हो गया। यह पद्य-विवेचन लिखते समय मेरे सामने 'आश्रम-भजनावली' मे १५ पद्यो वाला यह पदसग्रह था, किन्तु बाद मे २१ पद्यों वाला पद-सग्रह मिला और गत चातुर्मास मे अधूरा रहा हुआ काम इस चातुर्मास मे पूर्ण हुआ।

आकर्षण और संवेदन

मुझे याद नही आता कि सर्वप्रथम यह पद-सग्रह मैंने कब और किसके मुंह से सुना था ? जब से मैंने यह पद-सग्रह सुना तब से मुझे इसके प्रति कोई अनोखा आकर्षण रहा है। इसे गाते समय अनेक बार हृदय मे आर्द्रता और शान्तरस के सवेदन पैदा हुए हैं और ज्यो-ज्यो इसमे गहरा उतरता हूँ त्यो-त्यो ऐसा मालूम होता है, मानो मेरी सुषुप्त आत्मा को झकझोर कर कोई नई दुनिया मे ऊपर-से-ऊपर ले जा रहा हो !

सिद्धि के सोपान

इस पद-सग्रह के रचयिता 'श्रीमद् राजचन्द्र' हैं। मूल में जैनागमो मे प्रसिद्ध चौदह गुण (जीव) स्थानक—मोक्षसोपान की क्रमिक पक्तियों—को दृष्टिगत रखकर यह पद-सग्रह रचा गया है। इसमे जो-जो लक्षण और दशाएँ बताई गई हैं, वे अक्षरश जैनागमो[1] पर से ली गई हैं। परन्तु उनका वर्गीकरण और योजनाबद्ध व्यवस्था, इतने उत्तम और सफल हुए हैं कि आगरा का ताजमहल जैसे स्थापत्यकला का अद्भुत नमूना है, वैसे ही गीता जैसे सर्वमान्य ग्रन्थ की कोटि मे आ सकने लायक यह पद-सग्रह आध्यात्मिक जगत् के आलीशान मन्दिर की कला का नमूना है, ऐसा मुझे लगा है। गीता के आसपास जैसे सारा आध्यात्मिक जगत् है, वैसे ही इसके आसपास आध्यात्मिक जगत् मे से निकाला हुआ पौष्टिक माल है। इसे पचाने के लिए अमुक भूमिका होनी चाहिए। पर जिसे यह पच जाय उसका तो वेडा पार है।

हिन्दुस्तान के विश्वविख्यात जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो धर्मों ने आर्यसस्कृति के उद्गम से लेकर आज तक विभिन्न रूप से साधनात्मक और दार्शनिक दोनो दृष्टियो से मोक्षमार्ग पर जाने के सोपान अपनी-अपनी[2] कक्षा के अनुसार सक्षेप मे या विस्तार मे बताए ही हैं। इस पद-

---

१ परिशिष्ट मे जैनागमों के साथ इन पद्यो की बराबर तुलना की गई है।

२ 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' इस श्रुति पर छहों दर्शनो के युक्तिवाद का शिलारोपण है। नैयायिक और वैशेषिक इन दोनो का सनातन ज्ञान के लिए युक्तिवाद और परमाणुवाद, वेदान्तदर्शन ने जिज्ञासा के विना ज्ञान नहीं होता—अतः 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहकर योग्यता के लिए शम, दम, उपरम, श्रद्धा, तितिक्षा, विवेक, इस षट् साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता बताई। सांख्य और योग इन दोनो में प्रकृतिलय या चित्तवृत्तिनिरोध के लिए यम, नियम,

सग्रह मे जैनधर्म की कक्षा से क्रमिक विकास का वर्णन होने से सविवेचन इस पुस्तक का नाम 'सिद्धि के सोपान' रखा गया है।

संस्करण का दृष्टिबिन्दु

इससे पहले इस पद-सग्रह पर विशेषार्थ या विवेचन की एक-दो आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई हैं, ऐसा मैंने सुना है, किन्तु इनमे से एक भी आवृत्ति अभी तक मेरे देखने मे नही आई।

इस सस्करण मे जो दृष्टिविन्दु है उसमे और श्रीमद्‌जी की मूलकृति के पीछे रही हुई भावधारा मे अन्तर होना अनिवार्य है, क्योकि मुख्यत. यह अन्तरग भूमिका का विषय है।

साथ ही मुझे यह वात भी स्पष्ट कर देनी चाहिए कि श्रीमद्‌जी के अनेक विचार इस ढग से प्रस्तुत किये गए हैं, जो मेरे गले नही उतरते, परन्तु मैंने ऐसा नही माना कि मुझे जो गले न उतरे, वह सर्वांशत त्याज्य है। कितने ही स्थल ऐसे भी है, जिनमे पूर्वापर सन्दर्भ और मूलभूत आशय का विवेक न रखा जाय तो अनर्थ की सभावना है।[1]

श्रीमद् राजचन्द्रजी

श्रीमद्‌जी के वारे मे एक भी अक्षर उच्चारण करने के पहले मुझे सकोच होता है, क्योकि उनकी मूल प्रतिभा के समक्ष दो प्रकार के वायु-

---

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का क्रमिक साधनावर्णन, प्राचीन बौद्धदर्शन में 'सक्काय दिट्ठि' (सत्कार्य-वाद) आदि दश संयोजनों के अभावरूपी निर्वाण का आष्टांगिक मार्गक्रम और हरिभद्रसूरि की मित्रा, तारा, वला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा:, इन आठ दृष्टियों आदि के वर्णन वाला साहित्य काफी है।

१. यह स्पष्टीकरण श्रीमद्‌जी की सभी कृतियों की अपेक्षा से यहाँ किया है।

मंडल खडे हो गए हैं—(१) शाब्दिक अतिप्रशंसको का और (२) केवल विरोधको का।

इसलिए इन पद्यो के विवेचन करते समय मैंने उनकी विधेय भावात्मक दिशा की ओर लक्ष्य रखा है। संभव है, इससे उस पुरुष की मूलकृति को मुझे सन्तोष हो उतना न्याय भले ही मिला हो, पर पूरा न्याय न भी मिला हो। तथापि ईमानदारीपूर्वक इतना तो मैं मानता हूँ कि उनकी कृति को जरा भी अन्याय न हो; इसकी पूरी सावधानी मैंने रखी है। तथा जब-जब उक्त दोनो पक्षो की ओर से श्रीमद्जी की जीवनभूमिका के बारे मे अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार मन्तव्य प्रस्तुत करके मुझसे अभिप्राय मांगा गया है, तब-तब मैंने प्राय मौनसेवन किया है, अथवा स्पष्ट सयोगो मे मैंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। मुझे यो लगता है कि सिर्फ श्रीमद्जी के लिए ही क्यो, किसी भी व्यक्ति की यथार्थ अन्तरग भूमिका के लिए अपना अभिप्राय प्रगट करने मे काफी जिम्मेवारी रही हुई है और उसके लिए इतनी महामध्यस्थ भूमिका भी तो चाहिए। मुझमे उस जिम्मेदारी को उठाने की शक्ति और योग्यता जितने अश मे हो, उतने अश मे ही वह उठानी चाहिए। इसलिए यहाँ श्रीमद्जी के व्यक्तिगत जीवन के बारे मे सागोपाग चर्चा नही करूँगा, पर इस पद-संग्रह के रचयिता होने के नाते उनके बारे मे इस प्रसग में कुछ न कहूँ तो मैं अपना आत्मधर्म चूकता हूँ। इसलिए इस 'पद-सग्रह' तथा श्रीमद्जी की अन्य कृतियो पर से मेरे मन पर जो उनके बारे में जो छाप पडी है, वह उन्ही के वाक्य उद्धृत करके कहूँगा। मैं समझता हूँ गुण-शोधक दृष्टि रखकर देखने वाले किसी का भी इस विषय मे मतभेद नही होगा।

श्रुतभक्ति

जैनागमो के प्रति उनकी अनन्यनिष्ठा उनके ही ये शब्द प्रमाणित कर रहे हैं—'सभी धर्ममतों का विचार जिनप्रणीत वचनामृतसिन्धु के सामने

एक बिन्दु के बराबर भी नही है'—मोक्षमाला पाठ ९५।

'ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नही है, जो जैन (धर्म) मे न हो!'

'ऐसा एक भी तत्त्व नही है, जो जैन (धर्म) मे न हो!'—'मोक्षमाला पाठ—९५।

जैन शब्द से कोई एकान्त आग्रह या भ्रम मे न पड़े, इसलिए वे कहते हैं—'जैनशास्त्रो मे अवगाहन करने से पहले भूमिका—अन्तरग योग्यता (तो) होनी ही चाहिए।'—मोक्षमाला पाठ ९५.

अन्त मे अधिक स्पष्ट शब्दो मे वे कहते है—"मैं जो कुछ कह गया, वह सिर्फ जैनकुल मे जन्म पाए हुए के लिए ही नही, किन्तु सबके लिये है।"—मोक्षमाला पाठ ९५।

यह निर्विवाद है कि उन्होंने जैनेतर पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के ग्रन्थ इने-गिने ही देखे थे, पर इसी से उन्हे जैनदर्शन के प्रति अनुराग था, यह नही, अपितु जैनागमो मे से उन्हे जो अन्तरग शान्ति मिली, वैसी उनकी अन्तरग भूमिका थी, यही उनके अनुराग का मूल कारण था। उन्ही के शब्दो मे—

"आप चाहे जिस दर्शन को माने, फिर जैन (दर्शन) को आपकी दृष्टि मे आए वैसा कहे, सभी दर्शनशास्त्रो के तत्त्व को देखें वैसे ही जैनतत्त्व को भी देखे। (फिर) स्वतन्त्र आत्मशक्ति से जो योग्य लगे, उसे अगीकार करें। मेरी या दूसरे चाहे जिसकी बात भले ही आप एकदम मान्य न करें, पर तत्त्व का अवश्य विचार करे।"—मोक्षमाला पाठ ९८।

"जैन (धर्म) जगत् को अनादि अनन्त कहता है, यह किस न्याय से? यो एक के बाद एक भेदरूप विचार से जैनदर्शन आस्तिक है नास्तिक? यह पवित्रता समझी जा सकती है!"—मोक्षमाला पाठ ९५।

वीतरागभाव के प्रति रुचि और स्याद्वाद

जैनागमो मे से उन्हे जो दो तत्त्व सूझे और उन्होंने खीचे, वे ये हैं—(१) शुद्ध वीतरागता का पूजन और (२) स्याद्वाद। वे कहते हैं—"मध्यस्थ

या राग है, वहाँ सम्यक्त्व नही है" (मोक्ष० पाठ ६५) यह दृष्टि रखकर ज्यो-ज्यो वे आगे वढते हैं, त्यो-त्यो अन्त मे उनकी दृष्टि जैनदर्शन मे सभी दर्शनो को व्याप्त (समाविष्ट) देखती है—

"जे गायो ते सघले एक, सकल दर्शने ए ज विवेक।
समजाववानी शैली करी, स्याद्वाद समजण पण खरी ॥

राजपद्य पृ० ५७।

एकाग्रता

अवधानशक्ति के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उनकी एकाग्रता का तार टूटा नही। अनेक झझावात आए। वे स्वय कहते हैं वैसे उनकी अतरग भूमिका मे आकाश और पाताल का स्पर्श होता है (यानी इतना उतार-चढाव आता है)। देहस्थिति विगडती है। जीवन मे असामजस्य झाँकने लगता है। आखिरकार पुरुषार्थ थक जाता है, पर उनकी एकाग्रता खण्डित नही होती, क्योकि हृदयरग सस्कारगत था।

आर्द्रता

'वाक्य रसात्मक काव्यम्' या 'ध्वन्यात्मक काव्यम्' इनमे से चाहे जो काव्य-लक्षण लें तो वे काव्यात्मा थे। उनके रग-रग मे कवित्व भरा था। उनके गद्य और पद्य दोनो मे रस-निर्झरिणी निरतर वहती रहती है। मगर उनकी वास्तविक महत्ता तो यहाँ अकित होती है—

'हुं पामर शुं करी शकु ?'—राजपद्य पृ० ४३।
अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय'—राजपद्य पृ० ४६।
'गजावगर ते हाल मनोरथ रूप जो'—राजपद्य पृ० १४।

एक कल्पना

यह भूल प्रतिभा आज विद्यमान होगी ? मान लो कि वह विद्यमान हों तो कहाँ होंगे ? क्या करते होगे ? यह उन्ही के अन्तिम उद्गारो मे मैं देखिये—"बहुत ही शीघ्रता मे यात्रा पूरी करनी थी, वहाँ तो बीच ही महाना का रेगिस्तान आया और पैरो ने निकाचित उदयमान के कारण

थक जाने से आगे बढने से जवाब दे दिया।" इसलिए उन्होने जहाँ कही भी जन्म लिया होगा, वहाँ पूर्व सस्कारो की शृखला को देखते हुए—(१) खूब जागृत होंगे। शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा होगा। (२) जैन-दीक्षा उन्हे अतीव प्रिय थी, इसलिए किसी भी दर्शन के वे 'त्यागी' भले समझे जाते हो, पर आदर्श जैनत्याग का सेवन करते होगे। और युवा-वस्था मे ही उन्होने सर्वसग (आसक्ति) का परित्याग किया होगा, क्योकि यौवनवय मे सर्वसगपरित्याग परमपद प्राप्त कराता है। (मोक्ष० पाठ १०१) यह उनका दृढ मत था। (३) "यथा हेतु जे चित्तनो सत्य धर्मनो उद्धार रे, थशे अवश्य आ देहथी एम थयो निरधार रे"—(राज-पद्य पृ० १६) तथा "पवित्र स्याद्वादमत के प्रच्छन्न तत्त्व को प्रसिद्धि मे लाने का जहाँ तक प्रयोजन नही, वहाँ तक शासन की उन्नति नही।" (मोक्ष० पाठ ९९) इन उद्गारो को देखते हुए 'सत्यधर्म के उद्धार' के लिए सर्वधर्मसमन्वयरूप स्याद्वाद को सक्रिय रूप देने मे वे अवश्य ओतप्रोत हुए होगे। (४) कोई क्रियाजड थई रह्या, आत्मज्ञानमा कोई। माने मारग मोक्षनो करुणा उपजे जोई।।' (आत्मसिद्धि ३) यह उनका जीवनमन्त्र था, इसलिए वे जहाँ भी वहाँ होगे ज्ञान और क्रिया का सुमेल स्वय साधकर दूसरो को सधाते होगे, कर्म, वाणी और विचार की एकवाक्यता की जीती-जागती मूर्ति होगे वे! (५) हिन्दुस्तान (भारतवर्ष) का क्षेत्र उन्हे अतिप्रिय था, इसलिए या तो यह क्षेत्र उन्हे मिल चुका होगा, अथवा अन्य क्षेत्र मे होगे तो भी इसके प्रति उनकी अथाह प्रेमवृष्टि हो रही होगी।

'अवश्य कर्मनो भोग छे, भोगववो अवशेष रे।
तेथी देह एकज (मनुष्य शरीर) धारीने, जाशु स्वरूप स्वदेश रे।।'

यह था उनका अन्तिम वचन! उनकी आत्मा उन्हे एक बार सफल बनाए!

सर्वत्र शान्ति विस्तरे!

मैया मन्दिर
माणकोल
१५-८-३९

—*'संतबाल'*

दो शब्द

मुख्य प्रस्तावना (पुरानी) मे इस पद-सग्रह मे रही हुई खूवी और इसमे वताया हुआ जीवन-विकास-क्रम जैनागमो के आधार पर वर्णित है, यह वात स्पष्ट की है। साथ ही श्रीमद्जी की अन्तरग भूमिका का उन्ही के शब्दो मे वर्णन करके, उसके आधार पर यह कल्पना भी की गई है कि वे क्या करते होगे और कहाँ होगे ?

अकेला श्रावक-जीवन या अकेला श्रमण-जीवन जैनपरम्परा के सघ के अनुकूल नही है; दोनो मिलकर ही पूर्ण सघ बनता है। इतना ही नही, अकेले पुरुपदेह या अकेले स्त्रीदेह से भी सर्वांगी साधना नही हो सकती। इन दोनो की परस्पर पूरकता अनिवार्य है। इस दृष्टि से भी इस सघीय कल्पना का मूल्य है। और भालनलकाठाप्रदेश के धर्ममय समाज-रचना के प्रयोग ने भी इस वात की पूरी प्रतीति करा दी है।

महात्मा गाधीजी की व्यक्तिगत और सार्वजनिक साधना का आन्दोलन सारे विश्व मे फैलने के वाद अनुभवपूर्ण आध्यात्मिक वाचन की भूख देश-विदेश मे वढती जा रही है और सभी सस्कृतियो और धर्मो के सत्यो का सार ग्रहण करने की दृष्टि से सगम होने का अवसर भी पैदा हुआ है। ऐसे समय मे हिन्दीभाषाभाषी जगत् के लिए इस पुस्तक का प्रकाशन काफी महत्त्व रखता है। यो तो इस पुस्तक का गुजराती मे यह चतुर्थ सस्करण है। अन्तिम सस्करण मेरे गुरुदेव पू० नानचन्द्रजी महाराज की प्रेरणा से 'देवचन्द्रजी' सार्वजनिक पुस्तकालय, लीवडी (सौराष्ट्र)' से प्रकाशित हुआ है। हिन्दीभाषा मे तो यह पहला ही सस्करण है।

अहिंसा-मन्दिर, दिल्ली-चातुर्मास मे इसके हिन्दी-सस्करण की स्फुरणा पैदा हुई, मैंने अहिंसा-मन्दिर के व्यवस्थापकजी को इशारा किया, अत इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। परन्तु इसके प्रकाशन का श्रेय अनायास ही 'सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा' को मिल रहा है। यह स्वाभाविक रूप से सोने मे सुगन्ध-सा कार्य हुआ है, क्योकि सन्मति ज्ञानपीठ के पीछे एक समन्वयप्रिय महान् साधु की प्रेरणा काम कर रही है, और वे है कवि-रत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज। वे स्वय कवि है और श्रीमद्-राजचन्द्रजी की मनीषी कवि के रूप मे भी ख्याति है।

मेरे साथी प्रिय नेमिमुनि ने अपना परिश्रमशील हृदय उँड़ेल कर इसका हिन्दी अनुवाद किया है।

आशा है, हिन्दीभाषी जगत् को यह पसन्द आएगा और आन्तरिक अनुभव के आधार पर स्फुरित यह पद्यावली, जिज्ञासु भाव से लिखित विवेचन तथा सक्रिय अनुभूति से परिपुष्ट हुई प्रतीति के इस त्रिवेणी सगम मे स्नान करके धर्मश्रद्धालु जैन-जैनेतर वर्ग जीवनरस का आनन्द लूटेगा और उसे जगत् को परोस कर इस प्रयास को सार्थक करेगा, इसी श्रद्धा के साथ लेखनी को विराम देता हूँ।

अहिंसा मन्दिर
अन्सारी रोड, दरियागंज
दिल्ली-६
दिनाक ११-१०-६३

—*'संतवाल'*

प्रकाशकीय

श्रीमद् रायचन्द्र एक आध्यात्मिक चिन्तनशील विचारक थे। उनके आध्यात्मिक विचारो मे महात्मा गाधी भी प्रभावित थे। म० गाधी ने एक जगह रायचन्द्र भाई को अपने आध्यात्मिक गुरु के रूप मे स्वीकार किया है। इनमे श्रीमद् रायचन्द्र के विराट् व्यक्तित्व, व्यापक अध्ययन, आत्म-अनुभूति एव गम्भीर चिन्तन का स्पष्ट परिचय मिलता है।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमद् रायचन्द्र के **'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?'** एक गुजराती पद्य-सग्रह पर प० मुनिश्री सन्तवालजी के गुजराती विवेचन का हिन्दी अनुवाद है। यह पद्य-सग्रह आध्यात्मिक साधना के सोपान पर चढने वाले साधको के लिए महत्त्वपूर्ण सम्बल है। अनेक साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाएँ प्रात स्मरण एव आत्मचिन्तन के लिए इसका उपयोग करते है।

आध्यात्मिक विचारो से ओतप्रोत 'सिद्धि के सोपान' पुस्तक से पाठको को अपने आध्यात्मिक चिन्तन मे तेजस्विता लाने के लिए पर्याप्त सामग्री मिलेगी। इसी आशा से प्रस्तुत पुस्तक पाठको के करकमलो मे समर्पित है।

प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म० ने किया है, जिसके लिए ज्ञानपीठ बहुत आभारी है।

सोनाराम जैन
मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

'सिद्धि के सोपान' के मूल पद्य

अपूर्व अवसर

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो,
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदी ने,
विचरशुं कव महापुरुषने पंथ जो ॥१॥
सर्वभावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम-हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहि,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो ॥२॥
दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देहभिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो,
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए,
वर्त्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो ॥३॥
आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो,
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहि ते स्थिरतानो अन्त जो ॥४॥
संयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना,
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो;

ते पण क्षण क्षण घटती जतो स्थितिमां ,
अन्ते थाय निज स्वरूपमा लीन जो ॥५॥

पंच विषयमां रागद्वेष-विरहितता ,
पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो ;
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबन्ध विण ,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ॥६॥

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता ,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो ;
माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी ,
लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो ॥७॥

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि ,
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो ।
देह जाय पण माया थाय न रोममां ,
लोभ नहि छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥८॥

नग्नभाव, मुंडभाव सह अस्नानता ,
अदंतधावन आदि परम प्रसिद्ध जो ,
केश, रोम, नख के अंगे शृङ्गार नहि ,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्धि जो ॥९॥

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता ,
मान-अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो ;
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता ,
भवमोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो ॥१०॥

एकाकी विचरतो वली श्मशान मा ,
वली पर्वतनां वाघ सिंह-संयोग जो ;
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता ,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥११॥

घोर तपश्चर्या मां (पण) मनने ताप नहि,
सरस अन्ने नहि मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो ॥१२॥

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो,
श्रेणी क्षपक तणी करीने आरूढता,
अनन्य चिन्तन, अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥१३॥

मोह-स्वयभूरमणसमुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोहगुणस्थान जो;
अन्त समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटाऊं निज केवलज्ञान-निधान जो ॥१४॥

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जो ॥१५॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटी ए दैहिक पात्र जो ॥१६॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकल पुद्गल सम्बन्ध जो,
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥१७॥

एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;

शुद्ध निरंजन चैतन्य मूर्ति अनन्यमय ,
अगुरुलघु, अमूर्त सहज पदरूप जो ॥१८॥
पूर्वप्रयोगादि कारणनां योगथी ,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो ;
सादि अनन्त, अनन्त समाधि सुखमा ,
अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो ॥१९॥
जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमा ,
कही शक्या नहीं ते पण श्री भगवान जो ,
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥२०॥
एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में ,
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो ;
तो पण निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो ,
प्रभु-आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ॥२१॥

ॐ मैया

सिद्धि के सोपान

[१]

सोपान-आरोहण से पहले

जैनदृष्टि से ससार और मोक्ष इन दोनो स्थितियों के बीच मे आत्मा की तीन दशाएँ बताई गई हैं।

बहिरात्मा : मोह-रूपी निद्रा मे सोकर स्वभाव को भूलने से जीव द्वारा भ्रान्तिवश शरीर आदि को 'आत्मा' मानने से होनेवाली प्रवृत्ति वहिरात्मदशा है।

अन्तरात्मा : विवेक द्वारा भ्रम हटने से स्वभाव के प्रति रुचि पैदा होकर शरीरादि अपने (आत्मा) से भिन्न है, इस प्रकार का प्रकाश जिस दशा मे मिले वह अन्तरात्मदशा है।

परमात्मा : वीतराग भाव की पराकाष्ठा वाली अवाच्य, निष्कलक, परम शुद्ध दशा परमात्मदशा है।

इन तीनो दशाओ मे से जब मध्यवर्ती दशा आती है, तब उस दशा वाले जीव को सर्वोपरि दशा के तेज की चमक मिलती है। ऐसी परिस्थिति मे भव्य सर्वोपरि दशा के लिए निर्मल महत्त्वाकाक्षा पैदा होती है, तडफन भी जागती है। बस, उसी अवस्था का यहाँ क्रमशः दिग्दर्शन कराया गया है।

यह अन्तरात्मदशा से लेकर परमात्मदशा तक की उत्तरोत्तर भूमिकाओ के सवेदन का आर्षदर्शन है।

जिस क्षण प्रभु और स्वयं (साधक) अत्यन्त दूर होते हुए भी जिस

भाव-जगत् मे तादात्म्य का अनुभव साधक कर लेता है, उस क्षण की वाणी मे उतरी हुई यह रसगीता है। इस दृष्टि मे अर्जुन और भगवान् कृष्ण के (भगवद्गीता मे वर्णित) सवाद की तरह जीव और प्रभु का रूपकमय सवाद, समझने मे सरलता रहेगी, यह सोचकर (प्रारम्भ के) विवेचन मे योजा गया है।

[अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से आरोहण शुरू करके साधक चौदहवें गुणस्थान मे पूर्णसिद्धि के शिखर पर पहुँच जाता है। उसीका रोचक वर्णन पाठक अब तन्मयतापूर्वक पढ़ें।]

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो;
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदी ने,
विचरशुं कव महापुरुषने पंथ जो।...अपूर्व...(१)

अर्थः—पहले कभी जिसका अनुभव नहीं हुआ ऐसा अवसर कब आएगा ? बाहर और भीतर की गाँठें खुल कर मुझे कब स्वतन्त्रता मिलेगी ? सभी सम्बन्धों में रहा हुआ तीक्ष्ण बन्धन तोड़कर महापुरुषों की विहारवाटिका में कब विचरण करूँगा ?

विवेचन :—ऐसा मौका कब मिलेगा ? यह कब होगा ? ऐसा हो तो कितना अच्छा ? यो तो जीवमात्र अपनी इच्छा के अनुकूल सामग्री देखते ही, उसे शीघ्र प्राप्त करना चाहते ही है, परन्तु वैराग्य-सुवासित हृदय की अन्तःपुकार इससे कुछ भिन्न वस्तु की याचना की होती है। उसे जगत् की किसी भी वस्तु की प्राप्ति लुब्ध नही कर सकती। इसी-लिए तो साधक कहता है कि वैसे तो न्यूनाधिक रूप मे मैंने सब वेदन किया है, भोगा है, अनुभव किया है। कडी भूख लगी हो तब छाछ-रोटी तथा खीर-पूडी मे क्या अन्तर है ? एक बिघा जमीन के स्वामित्व मे और चक्रवर्ती के सर्वतोव्यापी एकच्छत्र राज्य के स्वामित्व मे क्या अन्तर है ? मुझे तो वैसा अपूर्व अवसर लाना है, जिसका मैंने कभी अनुभव न किया हो ! पर इस अवसर के लिये तुझे क्या चाहिये ? यो कहने वाले प्रभु के

चरणों मे जिज्ञासु आत्मा निवेदन करता है कि मुझे निर्गन्थ बनना है। अर्थात् सभी प्रकार की गाँठो से रहित होना है। पर बाहर की गाँठे खुले बिना अन्तर की गाँठे कैसे खुल सकती हैं ? कहा भी है—

'परिग्रहोथी प्रतिबन्ध थाय, बंधाय आरंभथी कर्मग्रंथी;
छे मोहतृष्णा बीजवृक्षकाय, फले कषायो भवचक्र जेथी।'

'इस बाह्य परिग्रह से छुडाइये, मेरे नाथ ! मैं तो 'यह मेरा, यह मेरा' कहकर इसमे फँस रहा हूँ। इस ममत्व से मुक्त करके, हे भगवन् ! मुझे अपनी शरण मे ले लीजिए।' 'पर भाई, तुझे निर्ग्रन्थ होकर करना क्या है ?' इसके उत्तर मे वह कहता है—"सम्बन्ध, जो कि सम्यक् उत्कर्ष के लिए बाँधे गए थे, वे ही सम्बन्ध आज इस गाँठ के कारण बन्धनरूप बन गए हैं; क्योंकि इस गाँठ ने सम्बन्धमात्र मे गाँठे पैदा कर दी हैं। अगर विकार की गाँठ न होती, तो पत्नी का सम्बन्ध कितना उत्कर्ष साधने वाला होता ? अगर स्वार्थ की गाँठ न होती, तो माता-पिता का पुण्य-सम्बन्ध कितना आत्मसाधक बनता ? परन्तु इस गाँठ ने ही सहायक पात्रो को अवरोधक बना दिये है। आपके भजन करने मे लीन होता हूँ कि यह जाल मेरा मार्ग रोक कर खडा हो जाता है, मुझे आगे बढने ही नही देता ! आगे बढने मे रोडे अटकाता है !

'अमुक सम्बन्धी की यह बात पूरी न हुई ! अमुक सम्बन्धी बुरा मानेगा' इस प्रकार की अनेक उलझनें इसी (सम्बन्ध) के नाम पर आकर खडी हो जाती है ! ओह ! इन्ही गाँठो ने तो पवित्र धर्म-सम्बन्धो को भी बाडाबन्दी मे जकड दिये है। प्रभो ! कितना कहूँ ! अहह ! कितना तीक्ष्ण बन्धन ! कितनी वेदना ! एक बाड तोडता हूँ इतने मे तो दूसरी दो बाडे मानो खडी ही हैं ! एक छोटा-सा बाडा तोड़ो कि एक बडा बाडा तैयार खडा है ! ओफ ! प्रभो ! यह वेदना सही नही जाती। "पर गाँठ खोल कर तुझे जाना कहाँ है ?"

बहुत-से साधक बाहर की गाँठ तोड कर अन्तर की गाँठ तोडने के लिए प्रयत्नशील होते है, पर स्वच्छन्दता रूपी महाराक्षसी उनके सामने मुँह

वाए अड़ी खडी रहनी है और स्वतन्त्रता प्राप्त करने की धुन मे वे क्षुद्र वृत्तियो की गुलामी स्वीकार कर बैठते है। "तुझे जाना कहाँ है ?"

'विचरशु' कव महापुरुषने पंथ जो'

'मेरे नाथ ! आपको जिसने पहिचान लिया है, ऐसे महापुरुष के पथ पर— उसकी शरण मे जाना चाहता हूँ, हे वीतराग ! आपकी आज्ञारूपी अमृत की गोद मे ! ओ शीतलता के सिन्धु ! आपकी मधुर तरगो को झेल कर, सतप्त हृदय को शान्त करने के लिए !'

'वाह भाई वाह ! तुझ मे सहसा इतनी अर्पणता कैसे पैदा हुई ? अभी इस क्षण से पहले तो तेरे सभी इन्द्रिय आदि करण पौद्गलिक नृत्य[1] मे नाच रहे थे ! ऐसी उच्च भावोर्मियाँ कहाँ से स्फुरित हुई भला !' 'अरे वत्स ! तूने इस (कठोर) मार्ग के बारे मे कुछ सोचा भी है ?' 'हाँ ! मेरे प्रभु !'

[२]

सर्वभावथी औदासीन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशु' कल्पे नहि,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो॥ अपूर्व···(२)

अर्थ—सभी विद्यमान पदार्थों के प्रति उदासीन भाव जागृत हो और यह शरीर तक भी सयम का साधन बना रहे, जिससे सयम-आत्मोत्कर्ष—के सिवाय अन्य किसी भी कारण से किसी पदार्थ की इच्छा न हो और क्रमशः शरीर के प्रति रही हुई थोडी-सी आसक्ति भी दूर हो जाय ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?

विवेचन—बाह्य और आभ्यन्तर निर्ग्रन्थता का फल सर्वथा और सर्वदा अनासक्ति है और इन साधना का बीज वैराग्य है। इसीलिए कहा है—

१. (प्रकृति) सांसारिक।

'सर्वभावथी औदासीन्य वृत्ति करी'

वृत्ति की उदासीनता यानी वृत्ति का उर्द्ध्वमुखीकरण। अधोमुखी रुख के कारण ही वृत्ति पदार्थों के सेवन के लिए प्रेरित होती है। परन्तु उसका उर्द्ध्वमुखी रुख हो जाने पर क्षुद्र कुटेवें स्वय छूट जाती है। उदाहरणार्थ, कुत्ता हड्डी को देखते ही उसे चाटने लगेगा, किन्तु हस भूखा होने पर भी उसके सामने बिलकुल नही ताकेगा। क्योकि उसने इससे उच्च प्रकार का रसास्वादन किया है, इसलिए उसकी वृत्ति उसमे नही जायगी। परन्तु वृत्ति का यह उर्द्ध्वमुखी रुख जगत् मे विद्यमान सजीव और निर्जीव, दूर या निकट की सभी वस्तुओ के सभी भावो पर रहना चाहिये, अन्यथा सच्ची निर्ग्रन्थता नही सकेगी—बन्धन से मुक्त नही हुआ जायेगा। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य ऐसा है, जिसे किसी भी प्रकार के मोहक शब्दो का-सुरीले सगीत का प्रलोभन आकर्षित नही कर सकता, प्रत्युत उसके कान को सादा भगवद्भजन ही आकर्षित कर सकता है, लेकिन रूप देखते ही उसकी वृत्ति अधोमुखी रुख अख्तियार करने लगती है, तो ऐसे व्यक्ति का यह औदासीन्य सर्वभाव का नही समझा जायगा। विषयमात्र, फिर वे किसी भी इन्द्रिय के हो, जब समस्त 'पर' के व्यभिचरण की वृत्ति से हटकर पदार्थ की मूल आत्मा की ओर मुडते है तभी उसका सर्वभाव मे औदासीन्य सिद्ध हुआ समझा जाता है।

ऐसा औदासीन्य सिद्ध होने पर कैसी दशा होती है ? इसके उत्तर मे कहते हैं :—

'मात्र देह ते संयम हेतु होय जो'

तब देह स्वयं सयममूर्ति बन जाता है। अर्थात्—

'अन्य कारणे अन्य कशु' कल्पे नहि'

सयमसाधना मे निमित्त कारण के सिवाय अन्य किसी भी कारण से कोई वस्तु इच्छनीय नही रहती। ऐसी दशा मे पेट माँगे तब जरूर खाद्य पदार्थ लिया जा सकता है, परन्तु जीभ माँगे वह पदार्थ और उस समय नही लिया जा सकता। ऐसी वृत्ति होने पर खुराक विषयपूर्ति के लिए

नहीं, अपितु शरीर को पर्याप्त जीवनशक्ति देकर टिकाने के लिए सिर्फ औषधरूप बन जाता है। ऐसा होने पर आरम्भ (भोजन तैयार करने मे होने वाली द्रव्यहिंसाजनक खटपट) अनायास ही कम हो जाता है। थोड़े-से पदार्थों की आवश्यकता होने से परिग्रह भी कम हो ही जाता है। जैसे खाद्य-पदार्थों मे मर्यादा आ जाती है वैसे ही अन्य इस्तेमाल किये जाने वाले पदार्थों मे भी मर्यादा आती जाती है। साराश यह कि सयममूर्ति देहधारी को अन्दर से आवश्यकता के बारे में प्रश्न उठा कि वह तुरन्त पुन अपने अन्तर से पूछेगा कि यह पदार्थ आत्मोत्कर्ष के लिए कितना उपयोगी है ? सयममय शरीर से ही आत्मोत्कर्ष की साधना हो सकती है, इसलिए इस शरीर को टिकाए रखने या ताजा रखने के लिए, इस वस्तु की अनिवार्यरूप से कितनी आवश्यकता है ? अगर इसका जवाब ढीलमटाला मिलेगा, तो सयमाकाक्षी साधक सिर्फ वृत्ति के अधीन होकर कोई भी ऐसी क्रिया नही करेगा। ऐसे वैराग्यमय अभ्यास से उसकी मूर्च्छा उत्तरोत्तर घटती जायगी और वह यहाँ तक कि—

'देह पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो'

फिर तो उसकी शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ पर से मूर्च्छा दूर हो जायगी। तब स्त्री, पुत्र, सम्प्रदाय या शिष्यादि अथवा मान-प्रतिष्ठा आदि मे तो मूर्च्छा (आसक्ति) रहेगी ही कैसे ?

इस पद्य का यह अन्तिम चरण अन्तस्तलस्पर्शी और अत्यन्त मननीय है। बात यह है कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' इस सूत्र को मानने पर सयमी साधक को कई बार ऐसा भ्रम हो जाता है कि "मैं शरीर के लिए या शरीर को चिरकाल तक टिकाए रखने के लिए ही तो ऐसा या वैसा उपाय करता हूँ !" उसे पता नही लगता कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए सयममय प्रयत्न करना एक बात है और शरीर को ही स्वस्थ रखने (या सिर्फ मोटा बनाने अथवा चिरकाल तक टिकाए रखने) की चिन्ता किया करना, दूसरी बात है। पहली बात मे 'शरीर रहे तो क्या, चला जाय तो क्या ?' इस प्रकार शरीर की जरा भी चिन्ता नही होती, फिर

भी शरीर के प्रति जरा-सी भी लापरवाही नही है, प्रत्युत आवश्यकता
के अनुसार जागृति है। जबकि दूसरी वात मे, इस शरीर के बाद मानो
दूसरा शरीर मिलने वाला ही नही है, इस प्रकार की अश्रद्धायुक्त चिन्ता
है। इसीलिए शरीर पर हद से ज्यादा देखभाल रखने से यह सुकुमार
और भौतिक सुखलोलुप वन जाता है। और भौतिक सुखलोलुपता से
शरीर को पालते-पोसते रहने से सयम के मूल अग पर ही प्रहार होता
है, मन की वीमारी वढ जाती है और साधना खण्डित हो जाती है।
फिर वृत्ति मे (एक वार) हिंसा प्रविष्ट हुई कि आरम्भ और परिग्रह एक
या दूसरे प्रकार से घर कर लेते है।..

जो मनुष्य मन से अत्यन्त अस्वस्थ और दुर्वल वन जाता है, उसके
शरीर की स्वस्थता टिकना असम्भव है। इस प्रकार चलने का परिणाम
विलकुल उलटा आता है। इसीलिए यह कथन चेतावनी दे रहा है कि
'देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो...''

साधक जव निर्ग्रन्थता की साधना करता है, तव अन्य वाह्य सम्वन्धी—
जनो या पदार्थो से आसक्तिमय लगाव कम हो जाता है, लेकिन वाद मे
शरीर के प्रति आसक्तिमय लगाव कम करने का प्रवल पुरुषार्थ ही वाकी
रहता है। क्योकि दूर के वन्धन की अपेक्षा पास का वन्धन हमेशा जटिल
होता है। शरीर की मूर्च्छा दूर होगी तो शरीर मे कार्य करने वाले
अन्तरग करण—प्राण, मन, बुद्धि और चित्त—की भी (जो आत्मा के वैभा-
विक (अस्वाभाविक) रस से सव पैदा हुए हैं और निभे है) मूर्च्छा दूर
होगी। इस तरह जीवन की पराकाष्ठारूप आत्मसिद्धि के लिए अमूर्च्छ
(अनासक्त) दशा की मेरी यह कल्पना है। हे प्रभो! ऐसा अपूर्व अवसर
कव आएगा?

प्रभु कहते हैं—"परन्तु इस भूमिका को प्राप्त करने के क्रमिक
साधन कौन-कौन से है? उस सिद्धि का स्वरूप क्या है? तू जानता है,
वत्स!..."

साधक—"प्रभो! मेरी क्या बिसात कि मैं उस भूमिका का पूर्ण

स्वरूप बतला सकूं। मैं तो उनकी कल्पना ही कर सकता हूँ, ऐसी आज की मेरी दशा है। परन्तु नाथ! आपकी अपार कृपा से मैंने आपकी परमविभूतिस्वरूप वीतराग पुरुषो की वाणी की शरण ली है। उसमे मोक्षमहल के सोपानो का सुन्दर ढग से वर्णन है और मुझे इस बारे मे पूरी श्रद्धा है। यही कारण है कि मैंने उस वाणी को सिर्फ पढा ही नही, अपितु मेरे रग-रग मे वह वाणी रम गई है। इतना पक्का रग उस वाणी का मेरे जीवनपट पर लग चुका है, नाथ!"

प्रभु—"वाह शिशु वाह! तब तो तेरी भावना और कल्पना दोनो का सुमेल है। आत्मा जिस भावना के रग से रँग गया हो वह भावना समय आने पर फलित होती ही है। 'अच्छा, बोल वत्स! अब तू क्या कहना चाहता है?'

साधक—"हे विश्वभास्कर नाथ! आपसे मैं अब अधिक क्या कहूँ? फिर जब आप मेरे हृदय को परख ही रहे है तो मैं इस वाणी से उस बारे मे क्या कहूँ? और यह बात भी है, प्रभो! कि आपके पदाधिकारी पुरुष भी जिस पद का मूक उपदेश कर गये है, वह पद क्या (समग्ररूप मे) वाणी के द्वारा कहा जाना शक्य है? फिर भी आपके प्रकाश की छाया मुझ मे है, इसलिए मेरी वाणी को मुखरित होने की अद्भुत प्रेरणा मुझे हो रही हो, ऐसा महसूस हो रहा है! यो साधक की वाणी मुखरित हुई :—

[३]

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देहभिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो;
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए,
वर्ते एवु शुद्ध स्वरूपनु ध्यान जो। अपूर्व·· (३)

भावार्थ—"चेतन देह से बिलकुल अलग है। चेतन का चैतन्य सचेतन शरीर में व्याप्त होते हुए भी चैतन्यशक्ति अपने स्वधर्म (स्वभाव) मे अचलरूप से स्थिर है, पौद्गलिक धर्म-परधर्म—(परभाव) मे मिल

नहीं गई" ऐसे यथार्थज्ञान का अनुभव, दर्शनमोह[1] को पार करने के बाद सहज ही हो जाता है। और इससे क्रमश. चारित्रमोह के जटिल आवरण दूर होने पर सब तत्त्व हस्तामलकवत् हो जाने से मन का रुख अपने शुद्ध स्वरूप में ही स्वाभाविक रूप से लीन हो जाता है। हे प्रभो! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?

विवेचन—अहो! निर्लेपता मे कितना अनुपम आनन्द दिखाई देता है! वाह, कितने मधुर क्षण है ये! पर मेरे नाथ! इस मोह के महासागर को पार किये विना वह आनन्द स्थायीरूप से कैसे मिल सकता है?

इस प्रकार की मथनदशा मे साधक प्रभु के चरणो मे निवेदन करता है—"यह दर्शनमोह पार हो जाय तो कितना अच्छा हो! 'यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि' यह कथन सोलह आने सच है। दृष्टि वदले विना हृदय का वदलना असुलभ ही नही, अशक्य है। सदोष दृष्टिवाले व्यक्ति का जीवन निर्दोष हो, यह तो आकाशकुसुम के समान असम्भव है। जिस वस्तु को जीवन मे उतारना हो, तद्विषयक दृष्टि पहले परिशुद्ध कर लेनी चाहिए। दृष्टिरूपी शाण के दो पहलू है—विचार और विवेक। विचार का अर्थ है—पदार्थ के चारो ओर सर्वतोमुखी (मानसिक) परिभ्रमण करके उसमे गहरे उतरना। और विवेक यानी उस वस्तु का विश्लेषण करके (पुर्जा-पुर्जा खोल कर) उसमे विद्यमान सत्य को वाहर निकाल लेना। ये दोनो ज्ञान की आँखें है। विचार और विवेक से रहित ज्ञान अन्धा होता है और विचार और विवेक की आँखो से जाँच-पडताल करने के वाद भावना और धारणा के पात्र मे उसका स्थान सुदृढ हो जाता है, जो निमित्तो के मिलने पर अथवा निमित्तो के प्राप्त कर लिये जाने पर आचरण के क्षेत्र मे आए विना रह नही सकता। ऐसा होने

---

१. मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय।

पर त्याज्य का अनायास ही त्याग किया जा सकता है और ग्राह्य का सहजभाव से ग्रहण किया जा सकता है।

परन्तु इस दृष्टिमोह का उल्लघन ऊपर-ऊपर से हो तो काम नही चलेगा, इसीलिए यहा उसके साथ 'व्यतीत' विशेषण जोडा गया है। आशय यह है कि दर्शनमोहरूपी महासागर सागोपाग रूप से (सर्वथा) पार कर लेना चाहिए। तभी चारित्रमोह का स्वयभूरमण सिन्धु तरा जा सकता है।

कई बार ऐसा होता है कि राख के ढेर मे दबी हुई अग्नि के समान वृत्ति उपशान्त हो जाती है और साधक को भुलावे मे डाल देती है। अमुक प्रसगो मे निर्विकारी दिखाई देने वाला मन, मानो दृष्टिमोह बिलकुल नष्ट हो गया हो, ऐसी भूलभुलैया मे साधक को डाल देता है कि प्रबल प्रसग (निमित्त) मिलते ही, निर्विकार मालूम पडने वाला मन वापिस उसी अथवा उससे भी नीची दशा मे साधक को धकेल देता है। तब स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है कि दृष्टिमोह का महासागर सम्पूर्ण रूप से पार कर लिया गया है, इसे नापने का थर्मामीटर (मापक यत्र) कौन-सा है?···

इसीलिए कहा गया है कि दृष्टिमोह दूर होने पर पहले कभी नही हुआ हो, उस प्रकार का बोध प्राप्त होता है, कभी अनुभूत न हुआ हो, ऐसा अनुभव होता है। वह परम अनुभव यही कि—

'[1]देहभिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो'

मोहक-पदार्थ साधक को उलझन मे डाल देते है। शृङ्गारिक चित्र भी उसे चुम्बक की तरह खीचते है, रसदार स्वादिष्ट खानपान उसकी जीभ के सयम-सिंहासन को हिला देते है, अपनी बिलकुल झूठी प्रशसा का श्रवण भी उसकी वृत्ति को गुदगुदाने लगता है। यह सब होता है, उसका

१ देहभिन्न चैतन्य का ज्ञान सम्यक्त्व और सम्पूर्ण चैतन्यमय ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। एक मे साधना का मंगल प्रारम्भ है, दूसरे मे मंगलसिद्धि की पराकाष्ठा है।

कारण बाह्य वस्तुओ और स्वय के वीच किसी-न-किसी प्रकार की एक सजातीयता होने का आभास है और इसीसे उसे आकर्षण होता है। 'देह ही चैतन्य है' इस प्रकार की सजातीयता का आभास ही अज्ञान है। इसीसे वाह्य स्पर्श, रस, रूप शव्दादि मे उसे सुख की अनुभूति होती है। जरा-से ये फीके पडने लगे कि साधक को ऐसा प्रतीत होता है मानो आत्मा मुर्झा रही हो। जव तक देह आदि करणो से आत्मा बिलकुल पृथक् है, ऐसा दीपक के उजाले की तरह स्पष्ट ज्ञान और भान न हो तब तक दृढ वैराग्य ही कैसे सम्भव है? और पौद्गलिक आकर्षण छूट ही कैसे सकता है?...दृष्टि जहाँ तक पौद्गलिक (जड) भावो मे डूबी हुई है, तव तक सजातीयता[1] के नियम से अच्छे-बुरे सभी पुद्गल एक या दूसरी तरह से रागद्वेष के कारण अवश्य बने रहेगे। इसलिए दृष्टि मे चेतन मे विलसित चैतन्यभाव देखने की गुप्तशक्ति जागृत न हो, यानी बाहर के पार्थिव पटल को भेदकर अन्तरग चक्षु न खुले, वहाँ तक देह से चैतन्य भिन्न है, ऐसा ज्ञान ही स्फुरित नही होता। और जव तक ऐसा ज्ञान स्फुरित न हो, तव तक दृष्टि मे निरन्तर अमृत के झरने नही वह सकते। इस प्रकार दर्शन और ज्ञान का [2]अविनाभावी सम्वन्ध है। इसके लिए देह से भिन्न चैतन्य के दर्शन करने के लिए देह मे अत्यन्त गहराई मे निगूढरूप से जो चैतन्य का प्रकाश चमक रहा है, वह दृष्टि को दिखाकर उसे उज्ज्वल वनानी होगी। अत्यन्त गहराई मे इसलिए कि देह से लेकर आत्मा के द्वार तक पहुँचने के लिए वीच मे प्राण, मन, चित्त और वुद्धि के क्षेत्रो की अथाह नहरे इतने भँवरजालो और प्रलोभनो की भयकरता से परिपूर्ण हैं कि उस सकडी पगडण्डी मे से साधना की नौका को सहीसलामत चैतन्य के ज्ञानरूप तट तक पहुँचाना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।...

इसीलिए साधक प्रभु से याचना करता है, मुझे तो 'केवल चैतन्य

१ स्वत्वमोह।

२ एक के बिना दूसरा रह न सके ऐसा सम्बन्ध।

का ज्ञान चाहिये।' सिर्फ देह से भिन्न तो (आत्मा के सिवाय) अनेक दूसरे करण है, कहीं मेरी दृष्टि उनमे उलझ न जाय।...

'परन्तु केवल चैतन्य के ज्ञान से क्या लाभ है भला?' वह आगे की पंक्ति मे कहते है —

'एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए'

उनसे अनन्त जीवन के आनन्दनिधि का रसास्वादन करने से पहले बीच मे ही जो काम, क्रोध आदि शत्रु मेरा मार्ग रोककर खडे है, वे धीरे-धीरे पलायित होने लगेंगे, उनका जोर ठण्डा पड जायगा। हाँ, चारित्रमोह का वह बल कुछ समय तक क्षीण दिखाई दे, परन्तु फिर दुगुने वेग के साथ मुझ पर धावा बोलकर मुझे पछाड दे, ऐसी कृत्रिम क्षीणता या क्षणिक क्षीणता नही होनी चाहिए, प्रत्युत वह स्थायी होनी चाहिये। इस बात को कहने के लिए यहाँ चारित्रमोह के पहले 'प्रक्षीण' विशेषण लगाया गया है। तथैव यह सब घटना केवल काल्पनिक बनकर न रह जाय, यह बताने के लिए 'विलोकीए' शब्द प्रयुक्त किया है। अर्थात् उस चारित्र का विलोकन यानी चेतन का गहरा निरीक्षण—तद्रूप अपरोक्ष अनुभव-कर सके।

बहुत-सी बार तन्द्रावस्था मे या आँख की सचेत जागृति मे विविध प्रकार के अजीब रूप दिखाई देते है, साधक उन्हे आत्म-साक्षात्कार मान बैठता है और वृत्ति से ठगा जाता है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि 'यह देहभिन्न आत्मा का साक्षात्कार व्यवहार्य होना चाहिए। अपरोक्ष-अनुभव तो क्रिया मे झलके बिना नही रह सकता।...

आत्मसाक्षात्कार होने पर सरासर चेतननाश की क्रिया तो हो ही कैसे सकती है? अगर हो तो समझना चाहिए कि वह आत्मसाक्षात्कार नही है।

लेकिन, बहुत-सी दफा 'उदय' शब्द को अपने बचाव के लिए आगे करके साधक की वृत्ति सचमुच उसके आत्मधन को लूटने मे सफल हो जाती है। "अरे रे! क्या करूँ? उदय (अमुक कर्मो का) आया और

विकार चित्त के चिपक गया ! अहह ! रस (स्वाद) जीतने के लिए मैंने अमुक वस्तु का त्याग किया, फिर भी ऐसा ही रस, इस वस्तु को कृत्रिम वनाकर वृत्ति ने ग्रहण कराया !'' इस प्रकार के हार्दिक पश्चात्ताप तक 'उदय' को अवकाश है, पर आत्मा को विकारमय वनाकर पदार्थों का उपभोग करते ही रहने मे 'उदय' का वचाव चल नही सकता ! वृत्ति का विषयो की ओर खीच जाना, एक बात है और उस खिचाव मे आत्मा को सम्मिलित करके असन्मार्ग मे प्रवृत्ति किए जाना, दूसरी वात है। वृत्ति की विवशता मे आत्मा न फँस जाय, इसकी निगरानी 'चैतन्य का ज्ञान' रखता है और वह ऐसी निगरानी रखे तभी उसे सच्चा ज्ञान समझना चाहिए।

इसी कारण ज्ञान के वाद चारित्र मे प्रगति हुए विना नही रहती। अनेक वाधक कारण हो तो क्रिया मे विलम्ब मालूम दे सकता है, तथापि ऐसे साधक की नस-नस मे यही अमृतधारा वहती रहती है ! रग-रग मे जिसका रग लगा हो, उसका आचरण चाहे देर से हो, किन्तु वह आचरण अनात्म-आचरण तो हो नही सकता, यह अनुभवसिद्ध वात है।

इसीलिए चतुर्थ चरण मे कहा गया है :—

'वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो'

ज्ञान का फल ध्यान है। पर ध्यान किसका ? शुद्ध स्वरूप का। शुद्ध यानी निर्मल और वह भी स्वरूप का यानी अपना—आत्मा का !…

ऐसी दशा का चिन्तन ही तो धर्मध्यान है। वह वर्त्ते अर्थात् स्थायी रहे ! ऐसी दशा कायम रहे तो दोषो को दूर भागे बिना कोई चारा नही ! क्योकि—

''मन भया जव आतममग्न तव सिद्धि न भई तो क्या हुआ ?''

अर्थात् साधक का मन स्वभाव मे एकाग्र हुआ, रमण करने लगा, तव तो सिद्धि हो चुकी समझनी चाहिए।[1]

---

१ 'अनन्त भवथी आथडयो विना भान भगवान !' इस अपेक्षा से ज्ञान प्राप्त होने के वाद आया हुआ भान भवभ्रमण दूर करता ही है।

उदाहरण के तौर पर एक साधक खूब प्रसन्न और शान्तभाव से ध्यान मे यानी मूलगुण के—स्वभाव के—चिन्तन मे तल्लीन है। उसके सामने अनेक प्रकार के विषयो का चुम्बक पडा है, पर वह खींचेगा किसे? लोह को ही चुम्बक खीच सकता है, दूसरी चीज को नही! जिसने आत्मानुभव का रसास्वादन किया है, उसे दूसरा नशा कभी परेशान नही कर सकता, कदाचित् परेशान करता है तो भी उसे अपनी भूमिका से नीचे तो नहीं गिरा सकता। हे नाथ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?

निष्कर्ष

भवसागर एक नही दो है—दृष्टिमोह का और वैभाविक प्रवृत्ति का। दृष्टिमोह मे असद्भावना, कुविचार, अधम अध्यवसाय, खराब विकल्प और दुष्ट परिणति आदि का समावेश हो जाता है।

दृष्टिमोह खोटी चीजो के उलझन मे तो डालता ही है, मगर सत्य के नाम पर भी वह कदाग्रह की सडासी मे पकड कर उलझन मे डाल देता है। यह इसकी खास विशेषता है। क्रोध आदि कषायो और कुतूहल, भय, घृणा इत्यादि नोकषायो का मूल ही यही है। इसलिए पहले मोर्चे मे तो जरा भी विलम्ब किये विना इसे उखाड डालना चाहिए, इस समुद्र को पार कर देना चाहिए।

दृष्टिमोह को पार किए विना वैभाविक प्रवृत्ति से वचने का प्रयत्न करने वाले सफल नही हुए। वैभाविक प्रवृत्ति अच्छी न लगे, तब समझना कि या तो 'दृष्टिमोह का सागर अब सरलता से तरा जा सकेगा' की सूचना आ गई है या फिर 'दृष्टिमोह रूपी सागर का किनारा अब नजदीक आ गया है' इसका प्रकाशस्तम्भ दिखाई देने लगा है। दर्शनमोह-सागर पार करने के बाद प्रथम विचारशुद्धि और फिर आचारशुद्धि!

[४]

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,

सुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो;
घोर परिषह के उपसर्गे भये करी,
आवी शके नहि ते स्थिरतानो अंत जो। अपूर्व...(४)

अर्थ—दर्शन मोह के सागर का उल्लंघन करने के बाद जब ज्ञान का प्रकाश होता है, तब विचार, वाणी और व्यवहार में—संक्षेप से इन तीनों योग में—आत्मा की स्मृति ताजी रहा करती हो और सत्य को पचाने की तड़फन पैदा हो तो वही ज्ञान के होने का प्रमाण है। परन्तु सत्य का आचरण करते समय जाने या अनजाने अपने या दूसरों के द्वारा आ पड़नेवाले अनेक उपद्रवो मे भी ठेठ देह रहे वहाँ तक यह आत्मज्ञान सुरक्षित रह सके, ऐसी मेरी याचना है। ओ मेरे अन्त करण की गहरी गुफा में प्रकाशमान प्रभो! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?

विवेचन—योग का अर्थ है—आत्मा और क्रिया का जुड़ाना। इसके विशेष भेद पन्द्रह हैं। परन्तु सक्षेप मे यह मानसिक, वाचिक और कायिक, यों तीन प्रकार का है। सक्रिय मन के साथ आत्मा के जुडने से 'विचार' कहा जाता है, वाचा के साथ आत्मा के जुड़ने को वाणी कहा जाता है। विचार ज्यो-ज्यो स्पष्ट होते जाते हैं, त्यो-त्यो वाणी के माध्यम द्वारा वे वाहर आ सकते हैं। काया (शरीर) के साथ आत्मा के जुडने को व्यवहार कहा जाता है।

दृष्टि की मूढता दूर हो जाने से जब देहभिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान होता है, तब सर्वप्रथम भावना और विचार के क्षेत्र मे आमूलचूल परिवर्तन होता है। वाणी चेतनाशील, मधुर, अमृतोपम और प्रमाणभूत बनती है, फलस्वरूप व्यवहार मे सत्य करवटे लेने लगता है। वेसमझ व्यक्ति के भी विचार, वाणी और व्यवहार आत्मा के साथ सयोग से रहित नही होते, क्योकि आत्मा के जुडे विना मानसिक, वाचिक या कायिक कोई भी क्रिया नही हो सकती। तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी मे अन्तर क्या रहा? इसीलिए कहते हैं कि ज्ञानी के विचार, वाणी, और व्यवहार के साथ आत्मा का सयोग ही नही, आत्मा की स्थिरता भी

होती है। स्थिरता का अर्थ है—स्थायिता, चिरकाल तक टिके रहना। सयोग तो क्षणजीवी भी हो सकता है।

आत्मस्थिरता से क्या लाभ ?

जितनी भी भूले होती हैं, उनका मूल (कारण) आत्मस्थिरता का अभाव है। आत्मस्मृति का धन लुट जाने के वाद ही वुद्धिदेवी दिवाला निकालती है। इसीसे सुख और स्वतन्त्रता के स्थान पर दुःख और वधन डेरा जमा लेते हैं। इसीलिए आत्मस्थिरता की कदम-कदम पर आवश्यकता है। आत्मस्थिरता का अभाव ही तो भावमरण है। स्थूलमृत्यु की अपेक्षा भावमृत्यु महाभयकर है। जीवन मे एक ही वार होनेवाले द्रव्यमरण से डरकर, उससे वचने के लिए भौतिक वस्तुओ की खोज मे दौडते-दौडते जीवन हार जाना ससारविलासी पुद्गलानन्दी जीवो का मुख्य लक्षण है। वे प्रतिक्षण भयकर भावमरण मे रचेपचे रहते हैं। ज्ञानीपुरुषो की दया का झरना ऐसे जीवो पर निरन्तर वहता रहे तो भी उनके हृदय भीगते नही, क्योकि उनमे आत्मस्थिरता का अभाव है। ऐन मौके पर ही वे आत्मस्मृति खो वैठते है।

उदाहरणार्थ—'मैं चतुर हूँ', 'मैं ऊँचा हूँ' इस प्रकार के मिथ्याभिमान मे वारवार आवेशवश हो जाने वाला मनुष्य अपने सच्चे साथियो के कीमती प्रेम को खो वैठता है। साथियो द्वारा परित्यक्त उस मनुष्य को दुःखद अनुभव होने के वाद शायद कभी अपनी भूल का भान हुआ तो भी आत्मस्थिरता नहीं होगी वहाँ तक उसकी भूल छूटेगी नही। जवकि आत्मस्थिरतावाला साधक मिथ्याभिमानियो के समूह में भी नम्रता के अमोघ हथियार का इस्तेमाल करके विजयी वनेगा। परन्तु वह आत्मस्थिरता अगर ठेठ देह तक पहुँची होगी तभी वह सफल समझी जाएगी। इसीलिए कहा है :—

'मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो'

वहुत-से साधनाप्रिय व्यक्तियो के विचार और वाणी मे सूझवूझ और

स्नेह होता है, परन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ या लालच के आते ही वे मोहावेश के अधीन हो जाते है। क्योकि वे वहाँ अपनी आत्मस्थिरता खो बैठते है। इसलिए वे स्नेहमय विचार और स्नेहमय वाणी को उस समय भुला बैठते है, या ये दोनो बाहर से दिखाई देते हो, तब भी अन्तर मे माया (कपट) का जोर व्याप्त हो जाता है और जीवन का प्रवाह दो धाराओ मे बहने लगता है। अर्थात् 'अन्तर मे गहरी इच्छाएँ और वेष लिया है विरक्त का', जैसी दशा हो जाती है। क्या व्यापार मे, क्या व्यवहार मे, क्या घर मे और क्या जगल मे, जीवन के किसी भी क्षेत्र मे आत्मस्थिरता के बिना चैन नही। ग्राहक के आते ही व्यापारी ने आत्मस्थिरता खोई कि झूठ और प्रपच ने अखाडा जमाया। फलत. सत्य और साख दोनो गए ! जिसके ये दोनो गए उसके जीवन मे स्थायी वसन्त की बहार नही रहेगी ! विद्यार्थी ने स्थिरता खोई कि विद्यादेवी रूठी ! समझदार पति आपे से बाहर हुआ कि पत्नी की दृष्टि मे दो कौडी का हुआ ! 'त्यागी गुरु आत्मा को भूला कि कीमत कौडी की !

जिसके विचार मे आत्मस्थिरता होती है, वह दूसरो के लिए बुरा चिन्तन कर ही कैसे सकता है ? जिसकी वाणी मे आत्मस्थिरता होती है वह झूठ कैसे बोल सकता है ? जिसके कर्म मे आत्मस्थिरता होती है, उसका शत्रु रहा ही कौन ? यानी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' उसके लिए स्वाभाविक हो जाएगा। आत्मस्थिरता का जिसने आनन्द लूटा है, उसकी दृष्टि को विकार का स्पर्श ही कैसे होगा ? क्योकि वह तो तुकाराम की 'पापाची वासना नका दाऊँ डोला, त्याहुनी आँधला बरा च ह्मी' इस कविता के अनुसार अन्धा होना कबूल कर सकता है, पर झूठी (पापवासनामयी) दृष्टि को एक मिनट के लिए भी रख नही सकता। कर्म मे आत्मस्थिरता न आए वहाँ तक सभी काम कच्चा है, क्योकि कर्म ही विकसित जीवन का थर्मामीटर (मापक यन्त्र) है। कर्म मे आत्मस्थिरता आई कि समझना चाहिए सयममार्ग मे विहार शुरू हुआ। सत्यदेव के मन्दिर मे पहुँचने के लिए आचरण करना शुरू हुआ !

ऐसे साधक के मार्ग मे कदम-कदम पर घोर परिषह और उपसर्ग रोड़ा अटकाएँगे। इसीलिए दो पक्तियो मे कहा गया —

'घोर परिषह के उपसर्गभये[1] करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो।'

कर्म की समाप्ति तक आत्मस्थिरता तो होनी चाहिए, वह भी इतनी ठोस और अडोल कि जगत् की कोई भी आफत उस पर बुरा असर न डाल सके !

'दर्द में, आफत में, जंजाल में खुश है।
वो ही सच्चा मर्द जो, हर हाल में खुश है॥'

ऐसे सत्यार्थी पुरुष की सहज स्थिति होती है।

धर्ममार्ग से भ्रष्ट न होने के लिए निर्जरा के हेतु से सहे जाने वाले कष्ट, अथवा अनुकूल या प्रतिकूल भय-प्रलोभनो के समय वृत्ति के अधीन न होकर समतापूर्वक धर्मदृष्टि से उसका हल लाना, परिषह है। परिषह और उपसर्ग मे एक स्पष्ट अन्तर है। उदाहरण के तौर पर मिष्टान्न और मेदे के न खाने की प्रतिज्ञा है, किन्तु कही इन दोनो के सिवाय भोजन में और कोई चीज नही है, भूख कड़ाके की लगी है, सभी स्नेहीजन उत्साहपूर्वक खा रहे है। अपवादरूप मे ये दोनो चीजे ली जायँ तो कोई हर्ज नही, ऐसा स्नेहपूर्वक आग्रह भी मित्रगण कर रहे है। फिर भी वहाँ प्रतिज्ञा की आत्मा को—प्रतिज्ञा के ध्येय को—स्थिर रखना आत्मस्थिरता है। जैसे परिषह का उपर्युक्त उदाहरण मिश्र प्रलोभन का है, वैसा अकेले प्रलोभन का भी दिया जा सकता है। जैसे—किसी अधिकारी ने रिश्वत न लेने की प्रतिज्ञा की है, इसलिए स्वय रिश्वत के नाम पर कोई भी चीज नही लेता। सामनेवाला यह बात बखूबी जानता है, फिर भी उसे इनको किसी भी तरह से लालच मे फसाना है, इसलिए वह उस

१ यहाँ भय शब्द सहेतुक है। बहुत-सी बार परिषह और उपसर्ग साधक को इतना पीड़ित नही करते, जितना इन दोनो शब्दो का भय पीड़ित करता है।

अधिकारी को नही, पर उसके किसी सम्बन्धी के—पत्नी या बच्चे के—हाथ मे रुपये थमा कर यो कहता है—"ये तो भाई-साहब की सेवा के बदले मे दे रहा हूँ" या "मेरी बहन को साडी के लिए दे रहा हूँ" या "बच्चे को मिठाई के लिए दे रहा हूँ" वाणी की सफाई के सिवाय रिश्वत मे और इसमे क्या फर्क है ? आत्मस्थिरता वाला साधक ऐसे (प्रसगो) अनुकूल परिषहो मे सदा सावधान रहेगा परन्तु जो अस्थिर होगा, वह इसमे फँस जाएगा ।

जैसे यह लालच है, वैसे दूसरी अनेक हो सकती हैं । जैसे किसी ने परिणीत स्वस्त्री के साथ मर्यादित छूट रख कर बाकी सर्वथा ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली है । लेकिन विकारीवृत्ति से स्वस्त्री के साथ अमर्यादित रीति से ब्रह्मचर्यभग करके या सृष्टिविरुद्ध कर्म करके प्रतिज्ञा के आशय को मार कर प्रतिज्ञा-पालक कहलाना या मानना ।

इसी प्रकार कष्ट के सम्बन्ध मे भी परिषह का दृष्टान्त लीजिए—किसी ने पैर मे जूते नही पहने हैं । सख्त धूप पड रही है, मार्ग भी कटीला है, रास्ता भी वह भूल गया है और अपरिचित गँवार लोग सही रास्ता बताने के बदले उसकी हँसी उडाते है, मार्ग भी नही बताते या बताते हैं तो गलत बताते हैं । ऐसे समय मे आत्मस्थिरता वाले समझदार साधक को स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने सरल है, क्योकि उसे धर्मपालन करने मे अनेक कष्ट आने का खयाल तो होता ही है । उपर्युक्त तीनो उदाहरण परिषह के है । परिषह मे खासतौर से सयम से सम्बन्धित कष्टसहन आते हैं ।

लेकिन उपसर्ग मे तो इससे बिलकुल उलटा मामला है । अनिच्छा से अप्रत्याशित असम्भवनीय उपद्रव हो, वे उपसर्ग समझे जाते है । जिनकी कल्पना तक नही होती, ऐसे उपद्रव आ जाते हैं । जैसे, किसी को भूख लगी है, भोजन करना अनिवार्य है, उसकी इच्छा भी है, भोजन भी पास ही पडा है, किन्तु कोई उपद्रव करके उसे बिगाड देता है, अब इस प्रसग पर वह क्रोध करे तो बिगडा हुआ भोजन सुधरनेवाला नही,

परन्तु आत्मस्थिरता चली गई कि इस मौके पर आवेश आए बिना न रहेगा। कदाचित् सामने वाले के समक्ष आवेश प्रगट न किया जा सकने की स्थिति हो, फिर भी वृत्ति मे उत्तेजना आई ही गई। और वृत्ति मे उत्तेजना आई कि आत्महनन हुआ समझिए।...

यह तो सामान्य घटना हुई। यहाँ तो कहा गया है कि घोर से-घोर परिषह यानी सयम में प्रलोभन के महाप्रसग या वृत्ति मे उल्कापात मचा दे, ऐसी आधि, व्याधि या उपाधियाँ आएँ तो भी स्थिरता टिकनी चाहिये। कोई आकार चाहे जितनी विघ्न-बाधाएँ डाले फिर भी अपनी अहिसक मर्यादा मे चूकना न चाहिए।

यहाँ शका हो सकती है कि क्या ऐसे मौके पर जड बन जाना चाहिए? जड मे या पूर्णपुरुष मे ही ऐसा होना सुशक्य है, अन्यथा ऐसे प्रसगो मे चुप कैसे रहा जा सकता है? इसका स्पष्ट समाधान यह है कि चुपचाप रहने वाले, या दु:ख के समय जड-जैसी स्थिति मे पडे रहने वाले तो सिर्फ मूढ दशा के प्राणी ही प्रतीत होगे। पर इससे क्या हुआ? कुछ परिवर्तन हुआ? ऐसा सोचने वालो की वृत्तिजन्य हिंसा (भावहिंसा) कम भयकर नही होती। पर यहाँ जिस दशा का वर्णन किया गया है वह तो आत्मस्थिरता की दशा है। आत्मस्थिरता वाला साधक बीमार पडेगा ही नही, ऐसा तो असम्भव है, क्योकि उसके भी देहधर्म तो है ही। किन्तु वह बीमारी से छूटने का उपाय भी करेगा, क्योकि वह देहरूप साधन का उपयोग करने मे जागृत और निश्चित विचारो का होगा, अस्थिर नही। अस्थिर मनवाला तो ऐसे समय मे उछल-कूद मचाएगा, जिसने जो बता दिया उन सभी उपायो को एक साथ ही, आजमाने लगेगा, अधीर हो जाएगा, सेवा करनेवालो पर बारम्बार कुढेगा, वहम और पामरता की मूर्ति बन जायगा और हाय तोबा मचावेगा, चिल्लाएगा। आत्मस्थिरता वाला ऐसा नही करेगा। उस पर भी दु:ख का असर तो होगा, लेकिन वह समझदारी से समतापूर्वक दुखों को सहेगा और हल्के करेगा।

इसी प्रकार उपद्रवमात्र मेरी उच्चदशा की कसौटी करने के लिए पैदा होते है, सभी विपत्तियाँ अपनी पहले की या वर्तमान की भूलो का ही परिणाम है, ऐसा मानकर चित्त को शीतलता और प्रसन्नता से परिपूर्ण रखने का वह यथाशक्ति प्रयास करेगा। साथ ही आत्मस्थिरता वाला साधक इस वृत्ति को अहिंसक बनाने के प्रयोग अपनी प्रत्येक क्रिया के समय करेगा। अभ्यासपूर्वक ऐसी सहजता उसने साध ली होगी कि हिंसकवृत्ति वाला देहधारी उसका सामना करने से पहले उसके प्रभाव के सामने ठडा पड जायगा और कदाचित् तीव्र आवेशवश एक बार अनर्थ भी कर बैठेगा तो भी आखिरकार उसे अपना सिर उसके चरणो मे झुकाना ही पडेगा। वहाँ तक उसका अपना हृदय उसे चैन से बैठने नही देगा, क्योकि सच्ची अहिसा के चैतन्यबल के सामने जडताभरी हिंसा अन्ततोगत्वा निर्बल ही साबित होती है। ऐसी आत्मस्थिरता वाले ही अहिसा को पचा सकते है, सत्य की बलिवेदी पर प्राणो का अर्घ्य चढा सकते है! यही चारित्रमन्दिर की नीव है। चारित्र से ही जगत् की महान् सेवा हो सकती है क्योकि चारित्र के पारसमणि के पास जो-जो लोहा आता है, उसे स्वर्ण मे बदलने की अजब ताकत उसमे है। इसीलिए साधक चाहता है—'अपूर्व अवसर ऐसा कब आएगा!'

निष्कर्ष

जैन आगमो मे बताये हुए पचम गुणस्थानवर्ती साधक[1] (जिसे सराग सयमी, सयमा-सयमी, विरताविरती या व्रतधारी श्रमणोपासक या श्रावक कहा जाता है) का इसमे वर्णन है। परन्तु इस भूमिका मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीनो भाव (पूर्व वर्णनानुसार) हो सकते

१. आवश्यकताओ को कम करने और परिग्रह के प्रतिबन्ध से छूटने के लिए उसकी प्रतीक्षा होती है, इसलिए वह प्रतिज्ञाबद्ध जीवन को पसन्द करता है और इसमे सन्तुष्टवृत्ति होते जाने से अर्पणता और परदु.ख में स्वयं पीडित होने का गुण अत्यन्त विकसित होता है।

है। यहाँ क्षायिक भाव का समादर है और इसी कारण साधक ने तीनो योगो के सम्बन्ध मे अपनी भावना प्रकट की है—'मुख्यपणे तो वर्ते देह-पर्यन्त जो'। क्षयोपशमभाव मे अनुदीर्ण या उदय मे नही आये हुए कर्मो की उपशान्त दशा होने से मौलिक शुद्धि मे कचावट रह जाती है और जितनी कचावट होती है, उतना ही परिषहो और उपसर्गो के आने पर फिसल जाने का अधिक भय है। क्योकि परिषहो और उपसर्गो के खिलाफ लडने और अन्त मे सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने मे ही साधक की साधना का उद्देश्य और निचोड आ जाता है।

[५]

सच्चा ज्ञान होने पर संयम के बिना रहा ही नही जा सकता, यह तो सूर्य के उजाले की तरह साफ बात है। और संयम-पालन मे बाधा डालने के लिए परिषह और उपसर्ग आँखे फाडे खडे ही रहते है। वास्तव मे परिषहो और उपसर्गो का भय भी एक प्रकार का परिषह और उपसर्ग है। जबसे साधक संकट या प्रलोभन के भय से विरहित अर्थात् निर्भय बनता है, तभी से संकट और प्रलोभन उसके मानसिक समतारूप तराजू के दोनो पल्डो मे बराबर वजन के हो जाते है। साराश यह है कि जगत् की दृष्टि से भले ही वे परिषह और उपसर्ग दिखाई दें, किन्तु साधक के लिए तो वे संयमीजीवन-मार्ग के सच्चे और सहज साथी या मार्ग-दर्शक रूप बन जाते है।

इसीलिए पिछले पद्य मे साधक ने आत्मस्थिरता की याचना की थी, किन्तु अब 'मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो' यो कहकर इसका परिणाम क्या होता है, तथा पिछली दशा से उच्च भूमिका मे आने पर क्या दशा होती है, यह भी बताते हैं :—

संयमना हेतु थी योग प्रवर्तना,
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा अधीन जो;

ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो। अपूर्व···(५)

अर्थ—मन, वचन और काया के प्रत्येक योगो की प्रवृत्ति सिर्फ संयम के हेतु से हो। संयम भी स्वरूपलक्षी ही हो और स्वरूपलक्षिता जिनाज्ञा के अधीन हो। परन्तु ऐसा—लक्ष्य, कार्य, कारण और कर्ता का—क्रम भी साधकदशा में ही होता है, मगर ज्यो-ज्यो इससे उन्नत अवस्था की सहजता आती-जाती है, त्यो-त्यो इन सबका पृथक्त्व (भिन्नता) तोडकर अन्त मे निजस्वरूप मे ही ये सब विलीन हो जाते हैं, यानी ध्येय, ध्यान और ध्याता तीनो सहज रूप से एकाकार बन जाते है। नाथ ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?

विवेचन—वर्तमान मे आत्मस्थिरता कायम रहते हुए भी उदयावलिका मे ऐसे कर्म चारो ओर से घुस आते हैं कि सम्पूर्णतया विरक्तभाव नही रहने देते। परन्तु यदि दैहिककर्म तक आत्मस्थिरता स्थायी रहे, तो ऐसी दशा चिरकाल तक नही रह सकती, क्योकि भावना, विचार और क्रियमाण कर्म की प्रवल शुद्धि, विरक्तभाव से चिपके हुए कर्मो—सस्कारो के पूर्वकालीन अभ्यासो—के जोर को ठडा करके विरक्तिमुखी अभिरुचि को प्रवल बनाती ही है।

ऐसी अवस्था मे सयम की स्फुरणा कार्यान्वित होती है, फिर भी प्रमाद और कषायरूप प्रच्छन्न चोरो के हमले होने का काफी डर है; इसीलिए तो कहा है—

'संयमना हेतुथी योगप्रवर्तना'

मतलब यह कि विचार, वचन और क्रियामात्र मे सयम कारणभूत होकर रहे। सयमी के मन भी है, वाणी भी हैं और शरीर भी है। शरीर होने से उसे चलना, फिरना, सोना, उठना, बैठना, खाना, पीना, पहनना, ओढना, लेना, रखना आदि सभी क्रियाएँ करनी पडती है, अर्थात् उसे कर्म (क्रियाएँ) तो करने ही है। परन्तु असयमी और सयमी मे अन्तर इतना ही है कि सयमी जो कुछ विचार करेगा, बोलेगा या कायिक कर्म

करेगा वह सब संयम की सीमा मे रहकर करेगा, जबकि असंयमी के मर्यादा (हद) होगी ही नही, कदाचित् होगी, (सम्यक्त्वी-साधक की अपेक्षा से) तो भी संयमी के जितनी या संयमी के जैसी नही।

जितने अंश मे संयम होगा, उतने अंश मे विवेक तो होगा ही। विवेक और विचार के बिना ज्ञान टिक नही सकता और ज्ञानविहीन संयम सौटच्चो (खरा) संयम नही समझा जा सकता। इसलिए संयमी को प्रतिक्षण आत्मभान रहता है, रहना ही चाहिए।

इस नियम से संयमी अपने जीवन की आवश्यकताओ को सीमित कर लेगा। इतना ही नहीं, किसी भी वस्तु पर स्वामित्व-हक रखने की वृत्ति भी उसे भारभूत मालूम होगी। इसलिए वह अपनी मानी जाने वाली समस्त सम्पत्ति जगत् के चरणो मे समर्पित करके फूल-सा हलका हो जायगा। वह धन व खुल्ली या आच्छादित जमीन ही नही, अपितु परिगृहीत स्त्री, पुत्रादि की भी ममता-मूर्च्छा (आसक्ति) हटा देगा। वीर्य प्रकृतिदत्त रससिद्धि है, यो समझकर वह उसका दुरुपयोग या व्यय नहीं करेगा, उलटे उसको सञ्चित करके उसका सदुपयोग मौलिक वासना के क्षय के हेतु करेगा। क्योकि जहाँ अपने शरीर (और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओ) पर से ममता-मूर्च्छा दूर करने के पुरुषार्थ-रूप साधना अंगीकार कर ली, वहाँ अपत्यैषणा (सन्तान वासना) की वृत्ति को भी मूल से उखाडना सूझे, यह स्वाभाविक है।[1]

ऐसा संयमी व्यक्ति घर छोडकर जंगल मे, गुरुकुल मे या साधु-संस्था मे जाए ही, ऐसा कोई निश्चित नियम नही है। जिसने पत्नी पर के भाव मे से पत्नीत्व को दूर कर दिया, पुत्र पर से 'यही मेरा पुत्र है' इस प्रकार का संकीर्ण ममत्व हटा दिया और जगत् के समस्त मानवो के जैसा ही वह मानव सहज स्वाभाविक रूप से हो गया तो घर भी उसके लिए वन है। सृष्टि के चराचर जीवो के प्रति अन्तःकरण के निगूढ भाग मे जो

---

१. देखो दशवैकालिक सूत्र का चौथा अध्ययन और उत्तराध्ययन सूत्र का चौबीसवां अध्ययन।

शुद्ध प्रेम-प्रवाह (वात्सल्य का झरना) वह रहा है, उसे मोहसम्बन्ध ही रोककर क्षुब्ध व मलिन बना देते है ।

इन्ही मोहसम्बन्धों के कारण विश्वात्मा कुचला जाता है और जाने-अनजाने जगत् की हिंसा हो ही जाती है । अगर यह मोहसम्बन्ध हट गया और विश्व-व्यापक वात्सल्यसम्बन्ध आगया तो समझ लो, अहिंसा की शुरुआत हो गई । ऐसा साधक घर मे रहेगा, तो भी उसका घर सयम का नन्दनवन वन जाएगा । उसका पराग चूस कर कितने ही साधना-पिपासु मधुकर आत्मसुधारस प्राप्त करेंगे । और जब ऐसा सयमी सचमुच 'वसुधैव कुटुम्बकम्' 'सव्वभूयप्पभूय' (सर्वभूतात्मभूत) या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मे दृढ विश्वासी होगा, तव पानी की एक बूंद का या आहार के एक कण का भी जरूरत के विना कैसे इस्तेमाल करेगा ? जहाँ सर्वस्व विश्व के चरणो मे समर्पित कर दिया, वहाँ फिर आवश्यक वस्तुओ का भी सग्रह वह किसलिए करेगा ? वस्त्र भी विभूषा या आडम्बर के लिए अमर्यादित क्यो रखेगा ? उसका वचन तो अमूल्य होगा ही । अत उसका व्यय असत्प्रवृत्ति मे वह कैसे कर सकेगा ? एक भी आत्मघातक विचार को वह संग्रह करके कैसे रखेगा ? इसी प्रकार खुद के पास जो अमूल्य खजाना है, उसका चौकीदार स्वय वन जाने के वाद वह सयमी गफलत मे कैसे रह सकेगा ? उसे नीद आए तो भी जागृत रहेगा और जरासी किसी की आहट सुनाई दी कि वफादार द्वारपाल की तरह तुरत जाग उठेगा ! ऐसे साधक पर स्वप्न मे भी कुविचार आकर हमला नही कर सकते । इसी दृष्टि से **'सुत्ताऽमुणिणो, मुणिणो सया जागरंति'** मुनि सोते हैं, फिर भी जागते रहते है, ऐसा निर्ग्रन्थ प्रवचन मे कहा है । और जो इतना वाहोश और जागृत है, समझना चाहिए, वह जगत् की व्यक्त या अव्यक्त रूप से अनुपम सेवा ही कर रहा है । उसके ब्रह्मचर्य की उपासना जगत् को आकर्षित करती है । इसलिए उसका प्रत्येक वचन सैकडो हृदयो के परिवर्तन करने की सहज शक्ति रखता है, वशर्ते कि उसके मन, वचन और काया की एकरूपता सयम के हेतुरूप हो !

/

अब प्रश्न यह होता है कि 'सयम हेतु' सुरक्षित कैसे रहे ? क्योकि कई बार प्रामाणिकरूप से अमुक प्रसग मे सयम कारणभूत समझा जाता है, किन्तु वहाँ सयम का उपर्युक्त परिणाम शायद ही प्रादुर्भूत होता दिखाई देता है। इसीके समाधानहेतु कहते है—

'स्वरूपलक्ष्ये जिन-आज्ञा अधीन जो'

सयम[1] के लिए सयम नही होता, अर्थात् सयम स्वय साध्य नही है, वह भी एक साधन है। साध्य तो स्वरूपदशा है और सयम उसका साधन है। सयम को साधन के बदले साध्य मानने से ही आत्मविकास और विश्ववात्सल्य के द्वार पर पर्दा पड़ जाता है। जहाँ सच्चा सयम होता है, वहाँ 'हम तो अपना (खुद की आत्मा का) करे, हमे जगत् से क्या सरोकार ?' ऐसी असम्बद्ध (असगत) बाते नही हो सकती, क्योकि वहाँ तो समग्र विश्व को अपने मे समा लेने का विशाल लक्ष्य होता है। जहाँ सारा विश्व ही अपना है, वहाँ 'यह मेरा, वह पराया' ऐसे भेद कैसे हो सकते हैं या किसे अपने-पराये समझे जाएँ ? परन्तु सयम स्वरूपलक्षी (विश्वात्मलक्षी) हो तभी सयमी को ऐसा भान सुलभ हो सकता है।...

स्वरूपलक्षी पुरुष, अपने आसपास होने वाली विषम परिस्थितियो (अनिष्टो, बुराइयो या पापो) को अपनी अशुद्धि का परिणाम समझकर अधिकाधिक शुद्ध करने का पुरुषार्थ करेगा। मगर अपनी भूलो का टोकरा दूसरो के सिर पर डालकर वृत्तिविवश होकर उनसे भागना (उदासीनता या उपेक्षा धारण करना) कदापि पसन्द नही करेगा ! कहा भी है—

"वह स्वयमेव क्यों अपनी आत्मा को,
करेगा खण्डित भेदरेखाएँ खींचकर;
क्योंकि खण्डों (भेदों) से खण्डित होता स्वरूप तेरा।"

इस प्रकार की हितशिक्षा लेकर वह स्वय अभिन्नता-अखण्डता-अद्वैतता सिद्ध करने को उद्यत होगा। पर यहाँ तक पहुँचने के बाद भी एक

---

१. यहाँ सर्वत्र सयम सिर्फ मुनि (साधु) जीवन के अर्थ में नही समझना चाहिए।

महाभय साधक के सिर पर मँडरा रहा है, वह है विश्वास के अजीर्ण का, प्रशसा से होने वाले ववडर का और अहत्व के अभिमान का। विना कारण के होने वाली निन्दा को पी जाना सरल है, किन्तु प्रशसा को पीना या पचाना कठिन है। जुल्मो और अपमानो का सहना सरल है, किन्तु आओ, पधारो, 'घणी खम्मा' की कर्णप्रिय टण्कार सुनाई दे रही हो और वचन सुनने के लिए मानवमेदिनी की आँखें अपलकरूप से जिस समय उस पर गडी हो, उस समय की श्रद्धा, आशा और सम्मान-पूजा को पचाना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए कहा गया कि स्वरूपलक्ष्य तो होना ही चाहिए किन्तु वहाँ भी स्वच्छन्दता का मगरमच्छ उसे निगल न जाए, इसके लिए 'जिनाज्ञा की अधीनता' रूपी सुरक्षा होनी चाहिए।

जिन यानी वीतराग, उनकी आज्ञा अर्थात् वीतरागता का मार्ग, उसमे विचरण करना और अधीनता यानी उसके लिए सर्वसमर्पण करना। क्योकि श्रीमद्जी ने अपने एक ग्रन्थ मे कहा है —

'आत्मस्वभाव अगम्य ते अवलम्बन आधार।
जिनपदथी दर्शावियो तेह स्वरूप प्रकार॥'

साधक दशा मे सयमी को जो प्राथमिक साक्षात्कार होते है तथा सिद्धयोगादि प्राप्त होते है, उनमे पतनदशा का खतरा रहा हुआ है। इसीलिए कहा है कि सयम के फल तक भी परमश्रद्धापूर्वक समर्पण किया जाना चाहिए और ऐसा सर्वस्व समर्पणभाव वीतरागपुरुष के चरणो मे करना ही योग्य है।

ऐसे वीतराग के (प्रत्यक्ष न हो तो) परोक्ष दर्शन भी महानिर्जरा के कारण है। शास्त्रो मे उपलब्ध उनके प्रवचनो मे केवल निःस्पृहता होने से वे परम प्रेरक सिद्ध होते हैं, क्योकि प्रवचनो मे ऐसे पुरुषो की अपरोक्षानुभूति का प्रतिविम्ब पडा होता है। फिर समर्पित हुए ऐसे भक्त के उपाधि ही कौन-सी रही ? कोई उसकी निन्दा करे या प्रशसा ! वह तो इन दोनो प्रकार के शब्द-पुष्पो को 'त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' के अनुसार जिन की वस्तु है, उन्हे ही चढा देगा।

खाने के लिए उदरपूर्तिरूप भिक्षा मिले या न मिले, उसकी उसे चिन्ता नही, क्योकि ऐसे पुरुष की आवश्यकता की चिन्ता जगत् स्वय ही करेगा ! इसलिए उसे जो-कुछ पूजा या सम्मान मिलेगा उसे भी वह मूलपुरुष के चरणो मे चढा देगा। 'हे भगवन् ! ऐसा हो या वैसा हो !' इस प्रकार की वाञ्छा भी नही करेगा। क्योकि—

"भक्तहृदय भगवानमय चहे न कुछ प्रतिदान।
सर्वसमर्पण भक्त का, कहाँ रखे प्रतिदान॥"

लेकिन वस्तुस्थिति कुछ दूसरी है। जो बदले मे कुछ नही चाहता, उसे भी बदला तो अचूक रूप से मिलता ही है। जो आत्मभोग (Sacrifice) देता है, वह तो सचमुच ही आत्मसुधारस चखता है। इसी-लिए कहा गया—

'ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां
अन्ते थाये निजस्वरूपमां लीन जो।'

फिर तो 'मुझसे जिन भिन्न है' यह भेद की भावना ही क्रमश क्षीण हो जाती है और जिनस्वरूप निजस्वरूप मे प्रतीत होने लगता है। कहा भी है—'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि काई' (श्रीमद्राजचन्द्र) वास्तव मे निजपद और जिनपद के बीच एकता ही है। जो जिसका सच्चे दिल से स्मरण करता है, वह तथारूप हो ही जाता है। यह वाक्य भी इस अपेक्षा से घटित होता है—

'इयल भ्रमरी ध्यानथी भ्रमरी बनती जेम,
जिनध्याने करी भविकजन, जिन पण बनतो तेम।'

[नि० प्र० टीकाकार]

आत्मा स्वय ही परमात्मा है, (निश्चय दृष्टि से) सिर्फ विभाव के कारण वह कर्मो से बँधा हुआ है। वह बन्धन छूटना चाहिए। बन्धन छुडाने के लिए वीतरागवचन जैसा कोई सहायक नही है। भक्ति का उद्देश्य भी यही है। अहैतुकी भक्ति मे भक्त कुछ भी नही चाहता। किन्तु उसकी तद्रूपता ही अन्त.करण मे विराजमान प्रभु के तेज को बाहर से बाहर

खींच लेती है। यों होने से सयमरूप साधन का कार्य पर्याप्तरूप से हो जाता है और सयम एव अर्पणता दोनो अङ्ग (शुद्ध) आत्मा मे लीन हो जाते हैं। इतना ही नही, दोनो सहज बन जाते है।

पहले जो अर्पणभाव उपयोगपूर्वक अप्रमत्तता साधकर, सावधान रह कर लाया जा सकता था और जो सयम रखा जा सकता था वह अब सहज हो गया है। अथवा सयम के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला आनन्द सहज हो जाता है। इस दशा मे 'ऐसे-वैसे' बन्धन नही होते। पर यह दशा क्रमशः प्राप्त होती है, इसीलिए 'ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमा' इस चरण के द्वारा यह सूचित किया है।

दूसरा भाव इसमे से यह फलित होता है कि भले ही यह दशा क्रमश प्राप्त हो, पर होनी तो चाहिए। बहुत-सी बार साधक अवलम्बन में ही उलझा रहता है (फिर वह अवलम्बन सत्पुरुष[१] के वचन रूप हो, सत्पुरुष के शरीर-रूप हो या निराकार पदरूप हो) अथवा उपशमदशा को ही पर्याप्त मानकर (यानी उपशमदशा मे ही सतोष मानकर) अटक जाता है। अथवा प्रस्फुटित आत्मवीर्य की बाह्य चमत्कारिता मे ही फँस जाता है। इसीलिए कहा है—

'अंते थाये निज स्वरूपमां लीन जो'

प्रतिबन्ध और स्वच्छन्द ये दो बन्धन निजस्वरूप की लीनता मे रुकावट डालते है, इसलिए प्रतिबन्ध को रोकने के लिए आत्मस्थिरतापूर्वक त्रिकरण-त्रियोगी सयम की आवश्यकता है और स्वच्छन्दता को रोकने के लिए वीतराग के वचनो मे अटल श्रद्धा रखकर उसके अनुसरण-रूप समर्पणता की आवश्यकता है।

यदि इसका परिणाम (नतीजा) कुछ भी न आए तो यह पुरुषार्थ किस काम का? मगर पुरुषार्थ कभी निष्फल होता ही नही। अतः उसे सर्वक्रिया, सर्वभक्ति और सर्वज्ञान के फलस्वरूप अन्त मे निजस्वरूपलीनता

१. "जितने अंश मे जिस पुरुष मे वीतरागता होती है, उतने अंश मे उस पुरुष का वाक्य मान्यतायोग्य होता है।"—श्रीमद् राजचन्द्र।

का प्रकाशस्तम्भ वताया गया है।

और इतना कहकर, फिर वह आत्माभिमुख साधक प्रभु से प्रार्थना करता है कि 'ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?'

निष्कर्ष

जैनागमो के कथनानुसार यह वर्णन छठे गुणस्थानक की भूमिका का है। वैराग्यपूर्वक सयम के चिह्न धारण करने के वाद इतना तो अवश्य होना चाहिए :—

(१) अव मेरी सूक्ष्म या स्थूल सभी प्रवृत्तियाँ (क्रियाएँ) सयम के हेतु से हैं, असयम का एक भी विकल्प मेरे जीव-रूपी नाले मे न आना चाहिए।[1] कदाचित् आ भी जाय तो उस शल्य को (प्रतिक्रमण द्वारा) निकाले विना मुझमे जिया ही नही जा सकता। इस प्रकार सयम के साथ ही इच्छा और वृत्ति पर विजयरूप तप भी अनायास ही आ जाना चाहिये।

(२) और मेरा सयम का कुतुवनुमा (दिशादर्शक यन्त्र) वीतरागता के ध्रुवतारे के अभिमुख होना चाहिए, ताकि मार्ग मे टेढी-मेढी पगडडी आए, तो भी दिशाभ्रम न हो। यानी यथार्थरूप से अहिंसा का पालन हो।

(३) मुझे जो-कुछ पाना है, वह 'मेरे मे' ही है। सिर्फ 'मैं अपने को भूला हूँ'। इसलिए मैंने अपने मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, शरीरादि सव मेरे (अपने) वीतरागरूप आप्तपुरुष के चरण-शरण कर दिये हैं।' चलना भी मुझे है और वह भी अपने ही पैरो से और पहुँचना भी मुझे अपने स्थल मे है। वहाँ मेरा कहलाने वाला 'आप्त' भी 'मैं रूप' है, वहाँ मैं-तू की भेददृष्टि ही नही है। 'यह-वह' यो निर्देश किया जा सके, ऐसा अलग रूप भी नही है। 'पहले', 'आज' या 'वाद मे' ऐसे भेददर्शक काल का भी वन्धन नही है। गति या स्थिति मे सहायकरूप तत्त्वो की भी वहाँ अपेक्षा नही है। जहाँ केवल स्वरूप-स्थिति है, वहाँ वाणी तो पहुँच ही

१　इसे ही जैन परिभाषा मे 'संवर' कहा है।

कैसे सकती है ? यद्यपि वर्तमान मे ऐसी दशा नही है, तथापि इस दशा का मनोरथ भी मुझे ऋद्धि, सिद्धि या दूसरे प्रलोभनो और बाह्य चमत्कारो से बचा सकने के लिए उपयोगी है ।

इतनी स्मृति—जागृति-कदम-कदम पर न हो तो सयम और असयम मे केवल शब्दभेद के सिवाय कोई अन्तर नही रहता । फिर भले ही परिग्रह के बदले उपकरण—पुस्तक पन्ने आदि या भण्डार, भोग के बदले प्रसाद, पुत्रपुत्री के बदले शिष्य-शिष्या, आरम्भ के बदले सेवा और घर के बदले सम्प्रदाय आदि शब्दो का प्रयोग ही क्यो न होता हो !··[1]

[६]

सयम के हेतु से योगो (मन-वचन-काया) की प्रवृत्ति, लक्ष्यगत आत्मभान एव जिनाज्ञाधीनता होने पर उस साधक की स्वरूपदशा कैसी होती है ? और क्रमश कैसी होती जाती है ? यह आगे के पद्य मे स्पष्ट करते है —

पंचविषयमां रागद्वेषविरहितता,
पंचप्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने, काल, भाव प्रतिबन्ध विण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो । अपूर्व · (६)

अर्थ—शब्द, रूप, गन्ध, स्वाद (रस) और स्पर्श इन पांच विषयों पर राग और द्वेष—दोनो का अभाव रहे यानी मध्यस्थ (समत्व) भाव रहे । मद, विषय, कषाय, निन्दा और विकथा इन पाँच प्रमादों से मन की क्षुब्ध स्थिति; (चञ्चल दशा) न हो और कायिक, वाचिक या मान-

१ इस सापेक्ष कथन का कोई ऐकान्तिक उपयोग न करे । जिसके हृदय मे संयम बस गया है, उसके लिए तो यह सब संयम के हेतु—रूप हैं और जिसके हृदय में असंयम भरा है, उसके लिए ये सब असंयम को बढ़ाने के कारणरूप बन जाते हैं, यही यहाँ कहने का आशय है ।

सिक प्रवृत्ति सिर्फ उदय भाव के कारण हुआ करे, परन्तु उसमें किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव का प्रतिवन्ध (बन्धन) न हो, इसके अतिरिक्त उसमे इस प्रकार की फलाकाक्षा (फलासक्ति) भी न हो कि 'इसके द्वारा हो, ऐसा हो, ऐसा न हो" यानी निर्लोभता—निरासक्ति अथवा आशा-स्पृहारहितता हो। नाथ ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?

विवेचन : सगे सम्वन्धियो, जमीन-जायदाद या धन पर से स्वामित्व हक उठाकर जिसने अकिञ्चन याचकवृत्ति (यथालाभ सन्तोष वाली भिक्षा-वृत्ति) अगीकार की है, वह त्यागवीर भिक्षु साधना के लिए, चाहिये उतने और वे सिर्फ जरूरी साधन आत्मभाव खोए विना जगत् से प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करे, तो उसे मिल ही जाते हैं। परन्तु ये साधन उसके प्राप्त किए जाने पर या उसे प्राप्त होने पर उसका मध्यस्थभाव टिका रहना चाहिये। अर्थात् न तो उनके कारण मोह होना चाहिए, न घृणा ही। राग और द्वेष या मोह और घृणा एक ही वृत्तिरूप फुआरे की दो धाराएँ हैं। जहाँ एक आई, वहाँ दूसरी आई ही समझो। उदा-हरणार्थ—किसी भक्त या सज्जन ने साधक के लिए यो कहा कि 'ये कितने महान् पुरुष हैं !' कानो से सुना हुआ वह वाक्य मोहक लगा, मनोज्ञ भी लगा तो 'मैं महापुरुष हूँ' इस प्रकार के अभिमान का लेप साधक की आत्मा को और चेप वृत्ति को लगेगा। ऐसा होने पर जीवात्मा अपने को 'अणु' मानकर महत्ता की ओर प्रगति करता इतने अश मे रुक जायगा। और जितने अश मे वह रुक जायगा, उतने अश मे वृत्ति मे लापरवाही आ जाने से भूलें होने लगेगी।

जव कोई उसकी भूलो का उसे भान करायेगा तो उसके शब्द उस साधक को मर्मस्पर्शी चोट जैसे असह्य लगेगे और उनमे से शुभतत्त्व या सार न लेकर वह उलटे घृणा करने लगेगा और चेतावनी देने वाले व्यक्ति पर भी उसे अरुचि व नफरत पैदा होगी। यह वात यहाँ तक ही नहीं अटकेगी, अपितु और आगे वढेगी। ऐसे साधक को जो व्यक्ति हाँ-मे-हाँ मिलाने वाला या जी-हजूरी करने वाला होगा, वही अच्छा लगेगा

और वह उसी खुशामदखोर व्यक्ति की सभी बातें अच्छी मानने लगेगा। और प्रसगवश किसी भी प्रकार से उसे अपनी बात ठीक लगे, अथवा उसकी बात लोगो को यथार्थ लगे, इसके लिए अनर्थ भी करेगा। फिर जिस वस्तु का खुद को ज्ञान नही है, उसे भी लोगो के आगे कहकर या बढा-चढाकर कहकर अच्छी बाजू प्रस्तुत करने मे असत्य का सहारा लेगा। और जिसके प्रति उसे नफरत है, 'उसे नीचा कैसे दिखाऊँ', इसके लिए षडयन्त्र रचने मे हर प्रसग पर उनका मानस तैयार हो जायगा! — इस प्रकार जब चित्त की धारा दो भागो मे बँट जायगी तो मध्यस्थता-समता-तटस्थता या आत्मस्थिरता मे हानि पहुँचेगी, यह बात सर्व-विदित है।

इसके विपरीत मनोज्ञ शब्द सुनने के समय जिसकी आत्मा सावधान होगी, उसे ये शब्द सुनने से अभिमान तो होगा ही नही, प्रत्युत अधिक जागृति और उत्साह बढेगा, क्योकि वह बाहोश साधक अपने आन्तरिक और बाह्य दोनो जीवन के साथ सुने हुए शब्दो की तुलना करेगा और इस तरह तुलना करने से उसे अपनी कमी का अधिकाधिक ख्याल आने लगेगा। इससे उसे उन शब्दो पर या शब्द बोलने वाले व्यक्ति पर मोह होने का कारण नही रहेगा। मोह पैदा होने के जितने प्रसगो पर जीत हुई, उतनी ही साधक की जीत होने से स्खलनाएँ या त्रुटियाँ कम होगी, इतना होने पर भी उसे कोई अपनी भूल बताने वाला निकलेगा तो भी उसके प्रति घृणा नही होगी। यो होने पर उसकी वृत्ति मे आवेश नही आएगा और भूल बताने वाले की जिज्ञासा तृप्त करने के लिए वह सदा तैयार रहेगा। युक्तिपूर्वक समझाने पर भी भूल बताने वाला अपना मन्तव्य बदले या न बदले तो भी उसे कोई हर्ष या शोक नही होगा। सिर्फ अपने अधिका-धिक हृदय-मन्थन द्वारा वह उन सब चर्चाओ, बातो या कथनो मे से कुछ-न-कुछ प्रेरणा लेगा और इस प्रकार इस प्रसंग पर खुद ने जो श्रम और समय खर्च किया, उसका सही लाभ उठाएगा। जैसी बात शब्द-श्रवण के सम्बन्ध मे कही गई है, वही बात रूपदर्शन आदि के सम्बन्ध

मे जाननी चाहिए । जैसे—ऐसे साधक को कोई अच्छी वस्तु या वस्त्रादि मिले तो भी उस पर मोहित (आसक्त) नही होगा, तथैव आँख को नापसन्द वस्तु मिली तो भी जिस कार्य के लिए ज़रूरत थी, वह कार्य हो गया, इतने से वस, यो सोचकर वह उस अमनोज्ञ वस्तु के प्रति घृणा भी नही करेगा । इसी तरह सुगन्ध या दुर्गन्ध आकस्मिक (स्वाभाविक) हो वहाँ भी अपनी स्थिरता—सतुलन—वह नही खोएगा । "खाद्य पदार्थों को भी मैं स्वाद के लिए नही खाता, अपितु जीवनशक्ति के सिञ्चन के लिए ज़रूरी रस के लिए खाता हूँ," इस प्रकार की स्मृति प्रतिक्षण होने से वह पदार्थों के रसो का इस ढग से नही सेवन करेगा, जिससे आसक्ति पैदा हो । इसी प्रकार शय्या वगैरह की कोमलता या कर्कशता (खुरदरा-पन) मे भी वह मध्यस्थ रहेगा ।

ऐसे स्थितप्रज्ञ साधक की कोई भी प्रवृत्ति किसी को अकल्याणकर नही होगी, अपितु खुद के और जगत् के लिए कल्याणकर ही होगी । इसीलिए साधक की यह याचना है कि 'पच विषयो मे रागद्वेष-विरहितता' मुझे चाहिए । अर्थात् विषयो मे आत्यन्तिक विरक्तवृत्ति चाहिये, क्योकि विपय तो जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं, वहाँ तक रहेगे और चिपटेंगे भी । कदा-चित् थोडे समय के लिए उन्हे हम इन्द्रियो से अलग कर दे, जैसे 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन' गीता मे कहा गया है, किन्तु विषयो के दूर किये जाने पर भी उनके प्रति जो आसक्ति है, वह न मिटी तो वाहर से वे दिखने वन्द हो जायेंगे, मगर कल्पना मे (मन मे) वे आ धमकेंगे ।

इससे फलित होता है कि विपयो का वन्धन दूर करने के लिए विपयो के प्रति विरागभाव जागना चाहिये । विरागभाव जागृत होने से पहले, अथवा वैराग्य को सुदृढ करने के हेतु अभ्यास करते समय शायद विपयो से इन्द्रियो को अलग रखनी पडें । ऐसा होते हुए भी त्याग करने के वाद अगर विषयो के प्रति आसक्ति को कम करने का जरा भी प्रयत्न न हो तो नतीजा यह आएगा कि उस त्याग का भी त्याग हो जाएगा ।

साराश यह है कि विषय अपने-आप मे कोई बुरे नही हैं, परन्तु मन मे रही हुई आसक्ति ही विषयो मे दोष का विष घोलती है और इन्द्रियो द्वारा विषयसेवन करवाकर जीवन मे दूषणो की वृद्धि करती है।

इसी दृष्टि से ज्ञानी पुरुषो के लिए 'होत आसवा परिसवा नही इसमे सन्देह' (श्रीमद्) की उक्ति ठीक लागू होती है। क्योकि वे वीर्य (आत्मशक्ति) बढाने के लिए ही पदार्थों का उपयोग करते है और परमार्थ (परहित) के लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियाँ होती हैं।

किन्तु इतना होने पर भी साधकदशा मे एक ऐसा शत्रु है, जो इन्द्रियो से विचलित न होने पर भी और मन के काबू मे रखने पर भी भूकम्प का झटका जैसे सुदृढ मकान को भी हिला देता है, वैसे मन को कम्पित कर देता है। वह शत्रु है—प्रमाद। इसीलिए कहा गया है—

'पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो'

पूर्वोक्त पाँच प्रकार से पीडित करने वाले प्रमाद से मन क्षुब्ध न हो, ऐसी स्थिति जारी रहनी चाहिए। ऐसा न हो तो आत्मस्थिरता की ईमारत चाहे जितनी मजबूत और टिकाऊ बनाई हो, फिर भी मन के भूकम्प से उसके गिर जाने का अदेशा तो रहता ही है।

प्रमाद के मुख्य और अन्तर्गत प्रकार

मद, विषय, कषाय, निन्दा और विकथा, ये प्रमाद के पाँच मुख्य भेद हैं। मद का अर्थ है—अभिमानजन्य अहकार। इसे पैदा करने मे बाह्य निमित्त आठ हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप[1] विद्या, लाभ[2]

१. त्याग, प्रत्याख्यान, नियम, जप, भजन, ध्यान आदि सभी साधन से सम्बन्धित अगो का समावेश तप में होता है। 'कर्यं, करूँ छु भजन आटलु ज्या-त्यां वात कराय नहि, हूँ मोटो मुज ने सहु पूजे ए अभिमान धराय नहीं', इस कड़ी का तात्पर्य यही है।

२. निर्धारित बाजी के सफल होने पर "मैं कितना होशियार हूँ!" इस प्रकार का गर्व लाभमद कहलाता है! इस प्रकार के गर्वों से

और ऐश्वर्य[1]। मूल मे अगर घमड न हो तो ये सब निमित्त आत्मसाधक बन जाते है और अन्तर मे घमड हो तो ये सभी निमित्त विकास मे बाधक बन जाते हैं।

अभिमान के प्रकार—"मेरा समाज या मेरा सम्प्रदाय ही सच्चा है, बाकी के सब झूठे हैं, मेरा कुल ही ऊँचा है, बाकी के सब नीचे, मैं कितना रूपवान हूँ? दूसरो की अपेक्षा मैं कितना बड़ा नेता, राजा, राज्याधिकारी (अफसर), उच्चपदाधिकारी या अगुआ हूँ? ये सब मुझसे सलाह लेकर ही चलते हैं, नतमस्तक होकर चलते हैं तभी इनकी गाडी आगे बढ सकती है। मेरे बिना इन्हे पूछता ही कौन है?" ये और इस प्रकार के अभिमान से आगे बढती हुई आत्मा पछाड खाकर गिर पडती है। इसीलिए इसे प्रमाद का प्रथम अग बताया गया है। विचार, वाणी और व्यवहार मे उदण्डता, उडाउपन, उच्छृङ्खलता और स्वच्छन्दता आने पर या तो उसे उस पद को खोने का समय आ जाता है, अथवा वह पद उसे सतोष देने के बदले असतोषवर्द्धक बन जाता है। शिक्षण, साधन और अधिकार मिलने पर भी जो लोग दु:खी रहते है, उसका कारण यह है।

दूसरों के प्रति तुच्छ भावना और तिरस्कार पैदा होता है। और उतने अंश में विश्ववात्सल्य के सागर से वह मानवरूप बिन्दु अलग हो जाता है। अलग होने वाले की गाड़ी भी दूसरो के सहयोग बिना तो चलती ही नहीं। इसलिए पुनः सहयोग साधने के लिए उद्यत होने पर गुलामी मानस का निर्माण होता है।

१. ऐश्वर्य यानी सहज रूप से पच सके वैसा अधिकार। अगर अधिकार पाया हुआ जीव सचमुच उस अधिकार के योग्य न हो तो वह अधिक समय तक उसके पास नहीं टिकता। और जितने समय तक टिकता है, उतने समय तक अपना और विश्व का अनिष्ट ही बढ़ाता है। अगर वह वास्तव मे सहज अधिकारी है तो उसके पास जितना बड़ा अधिकार होगा, उतना ही अधिक वह नम्र होगा।

प्रमाद का दूसरा अग विषय है। यहाँ जिस विषय का निर्देश है, उसका सम्बन्ध विशेषतया विकार से है। इतनी उच्चकोटि पर पहुँचा हुआ साधक स्त्रीमात्र के प्रति मातृभाव की दृष्टि रखने का व्रत लिया हुआ होना ही चाहिए। इससे वह अपनी परिणीत स्त्री के साथ भी विकृत सम्बन्ध नही रख सकता तो फिर अन्य स्त्री के साथ तो विकृत सम्बन्ध रख ही कैसे सकता है। परन्तु इतना होते हुए भी जहाँ तक स्त्री-पुरुष के बीच 'अभिन्न-एकता'[1] साधक की मनोमयभूमि मे दृढ न हो जाय वहाँ तक पहले भोगे हुए शरीर-स्पर्शजन्य सुख की वासना के सस्कार अत्यन्त क्षीण न होने मे बाह्य मन के उनसे निवृत्त होते ही वे किसी-न-किसी निमित्त को पाकर प्रादुर्भूत हो जाते हैं और मन को क्षुब्ध कर डालते हैं। इसीलिए इसे (विषय को) प्रमाद का अग बताया है। प्रमाद का अर्थ है—आत्म-स्खलन। जो-जो आत्मा को अपनी स्थिरता से विचलित करने वाले हैं, वे सब प्रमाद के अग समझे जाते है।

जननेन्द्रिय के स्पर्शसुखजन्य सस्कार ठेठ आत्मा के मौलिक स्तर तक दृढता के साथ पहुँचते हैं, इसलिए उनका असर उतनी अधिक मात्रा मे घना और गहरा होता हैं। अर्थात् आगे बढते हुए साधक को जितना यह शल्य पीडित करता है, उतने दूसरी इन्द्रियो के विषय पीडित नही करते। यद्यपि सभी इन्द्रियो के विषय एक-दूसरे के निकटवर्ती या ज़रा दूर के सगी-साथी तो है ही। पर इनका सम्बन्ध राजा और राजसैन्य-जैसा है। जैसे राजसैन्य के साथ लडने का हेतु तो राजा को जीतना-भर है। राजा जीता गया तो उसका सारा सैन्य अपने-आप जीता ही जाता है। श्रीमद्जी ने भी कहा है—

---

१. 'भले आकारों में सदृश दिखते गागर घडा,
परन्तु दोनो में सदृश वह मिट्टी दिख रही।
रची जोड़ी ऐसी सकल नरनारी जगत् की,
सभी मे आत्मा दीप चमक रहा है समप्रभा॥'

'एक विषय ने जीततां, जीत्यो सौ संसार,
नृपति जीततां जीतिए, दल, पुर ने अधिकार।'

कषाय प्रमाद का तीसरा अग है। अप्रमत्तदशा मे उत्तरोत्तर आगे बढने मे निर्ग्रन्थ साधक विकार पर सर्वोपरि काबू कर सकता है, किन्तु फिर भी कषाय का अग तो वह ठेठ बारहवे गुणस्थानक तक न पहुँचे वहाँ तक रह जाता है। और उसी को लेकर उपशमकोटि की विकास-श्रेणि तक विकास पाया हुआ जीव, ग्यारहवें गुणस्थानक से क्रमश गिरता-गिरता केवल अज्ञानी की कोटि मे आ जाता है। कषाय और नोकषाय मिल कर चारित्रमोहनीय के २५ प्रकार है, पर उन सबका मूल मोह है। अज्ञान के नष्ट होने पर मोह दूर होता है। पर यह निर्मोहता जब तक विचार, वाणी और व्यवहार मे पूर्णरूप से और सहज न उतरे वहाँ तक जीव साधकदशा मे रहता है। इतना ही नही, बल्कि असावधानी से अपना पतन भी कर लेता है। यद्यपि जिस साधक का ज्ञान[1] गहरा और ठोस होता है, वह पतन होने से पहले ही चेत जाता है। हाँ, सावधानी तो उसे सतत रखनी ही पडती है।

प्रमाद का चौथा अग निन्दा है। किसी व्यक्ति का खुद को प्रतीत होने वाला दोष दूसरे के सामने खुल्ला करके उस व्यक्ति को बदनाम करना, नीचा दिखाना, यह निन्दा का स्थूल स्वरूप है। ऐसा करने से दूषित (गुनहगार) व्यक्ति का दोष कम नही हो जाता, (प्राय वह अपने दोष की निन्दा सुनकर छोडता नही।) बल्कि उस दोष का चेप निन्दा

१. क्षायिक समकित वाले जीव के लिए यह बात है। क्षायोपशमिक भाववाला जीव तो सिर्फ उपस्थित घटनाओ का निवारण करता है, बाकी की घटनाओ को दबी हुई रहने देता है, जबकि क्षायिक भाववाला ऐसे नही करता, वह तो भूलो को सुधारता है, इतना ही नही, बल्कि गहरे उतर कर भूलो के मूल को खोज कर उन्हें भी उखाड़ सकता है। यानी आमूलाग्र शुद्धि करता-करता वह आगे बढ़ता है।

करने वाले और सुनने वाले दोनो को लगता है। इनता ही नही, इसके कारण विषैला वातावरण व्यापक होकर अनेक सद्गुणो को मार डालता है। इसीलिए कहा गया है कि निन्दा के समान कोई भी अनिष्ट नहीं। निन्दक का अज्ञान उसके दिमाग मे इस अनिष्ट को इष्ट ठसा कर, यह जहर पिलाता है। जहाँ-जहाँ आलस्य और अज्ञानता होगी, वहाँ-वहाँ निन्दा की बेल अधिक पनपेगी। जहाँ पुरुषार्थ और विचार होता है, वहाँ उसका असर कम होता है। यह तो निन्दा के स्थूल और ग्राम्य-स्वरूप की बात हुई। यहाँ जो वक्तव्य है, वह सूक्ष्म निन्दाविषयक है। अपने से दूसरे के विचार, वचन और आचार (व्यवहार) निम्नकोटि के हैं, हलके हैं, ऐसा विचार आया कि निन्दा का प्रवेश हो चुका। अथवा जहाँ अपनी अपेक्षा दूसरा यश मे, अनुकूलता मे, प्रभाव मे, विद्या मे, लाभ मे या शक्ति मे आगे बढ जाता है और खुद अपनी अशक्ति या मिथ्याभिमान के कारण इसे देख नही सकता, सह नही सकता, वहाँ भी पहले ईर्ष्या, असूया, चुगली, द्रोह आदि पैदा होते हैं और यह सब निन्दा का परिवार होने से उसका जोर बढ जाता है। निन्दा एक अदृश्य (नही दिखाई देने वाली) महाहिंसा है। यह निर्दय राक्षसी आत्मरस को चूस लेती है। इसीलिए इसका प्रमाद के चतुर्थ अग मे समावेश किया है।

प्रमाद का पाँचवाँ अग विकथा है। इसके चार प्रकार हैं—(१) भोज्य पदार्थों की कथा, (२) स्त्रियो के रूप, लावण्य, अगचेष्टा आदि की कामोत्तेजक कथा, (३) परिग्रह या विलासी साधनो की कथा और (४) युद्धोत्तेजक कथा। भोज्य विकथा वह कहलाती है, जिससे स्वादेन्द्रिय की आसक्ति बढे। जैसे अहा! कितना बढिया साग बना है आज! और रायता तो देखो कितना स्वादिष्ट है! आपके अमुक शुभ प्रसग पर तो हम श्रीखण्ड-पूरी बनायेंगे! इस-इस प्रकार की रसनेन्द्रिय की आसक्ति-वर्द्धक बाते खाते समय या दूसरे समय करने से या याद करने से स्वादेन्द्रिय की आसक्ति मे अत्यन्त वृद्धि हो जाती है। स्वादेन्द्रिय के साथ जननेन्द्रिय का सम्बन्ध होने से उतने अश मे उसे भी उत्तेजन मिलता है।

'देखो तो सही ! उस भले आदमी ने कितना मनोहर बगला बनाया है ! कैसे साधन लाया है ! ये नए फैशन के कपडे, गहने और नई डिजाइन की प्रसाधन सामग्री आदि कितनी सुन्दर लगती हैं ! इस-इस प्रकार के वर्णन से या स्मरण से परिग्रह और विलास के सुषुप्त सस्कार जागृत होकर सयम के बदले असयम के रास्ते की ओर ले जाते है। विलासी साधनो का इस्तेमाल भी विकार और आसक्ति मे वृद्धि करता ही है।

इसी प्रकार स्त्रियों के गीतो, अभिनयो, अगचेष्टाओ, सुन्दरताओ का, (विशेषत: फिल्म अभिनेत्रियो का), विकारोत्तेजक ढग से वर्णन करना, स्त्री-सम्बन्धी विकथा है। जिस प्रकार स्त्री का वर्णन पुरुष को लागू होता है वैसे ही पुरुष का विकारोत्तेजक वर्णन स्त्री को लागू होता है।

इसी प्रकार फलाने आदमी से या देश से युद्ध करना चाहिए। युद्ध किए बिना उसकी अकल ठिकाने नही आ सकती। अमुक आदमी ने अमुक को जीत लिया, अमुक व्यक्ति हार गया। उनमे भी साम्प्रदायिक दगो के समय रस ले लेकर पूछना या बाते करना, जैसे कोई हिन्दू हो तो 'ऐं बहुत-से मुसलमान मारे गए !' अच्छा हुआ ! मुस्लिम हो तो 'बहुत अच्छा हुआ, हिन्दुओ की चटनी हो गई !' इस प्रकार की युद्धोत्तेजक बाते करने से वैर, क्रोध, आवेश, कुतूहल, हास्य, शोक या भय की वृत्ति पैदा होती है, जो स्व-पर दोनो के लिए घातक है।

एक या दूसरे प्रकार से प्रमाद के ये पाँचो अग आत्मा-रूपी सूर्य को ढाँक देते है। आत्मा के अनन्तवीर्य को धूल मे मिला कर, इसे कायर और पामर बना देते है। इन सब की जड मोह है। अब आगे कहते हैं —

'द्रव्य क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबंध विण'

अर्थात्, विषयो के प्रति अत्यन्त विरक्ति होते हुए भी केवल निर्मोही होने मे जैसे ५ प्रमादो द्वारा होने वाला मन का कोलाहल (क्षुब्धता) अवरोधक बनता है, वैसे प्रतिबध भी विश्ववात्सल्य-प्रवाह को सर्वव्यापक नहीं होने देता और आत्मशान्ति को भी टिकने नही देता। वह प्रतिबन्ध ४ प्रकार का होता है—द्रव्य का, क्षेत्र का, काल का और भाव का।

जैसे 'मुझे अमुक व्यक्ति, मडल या वस्तु हो तो मै अपना विकास साध सकता हूँ, अन्यथा नही, क्योकि वही मुझे पसन्द है ।' मुझे अमुक ही क्षेत्र (मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक आदि क्षेत्रो मे से एक) या कार्यक्षेत्र (गुजरात, वगाल, राजस्थान, आदि प्रदेश) अच्छा लगता है, दूसरा नही । 'मैं अमुक समय पर ही अमुक कार्य या बात कर सकता हूँ दूसरे समय मे नही ।' अमुक भावो, सयोगो या परिस्थितियो मे ही मैं यो कर सकता हूँ या सत्याचरण कर सकूँगा, आदि-आदि । ये इन चारो प्रतिवन्धो के क्रमश उदाहरण हैं । यद्यपि उदीयमान साधक को प्राथमिक अवस्था मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावो का ऐसा अवलम्बन साधक भी होता है और आगे वढे हुए साधको को इन्हे उपेक्षणीय या हेय समझना चाहिए, यह भी यहाँ कहने का आशय नही है । यहाँ कथिताशय यह है कि ये चारो प्रतिवन्ध साधक के लिए बन्धनकारक, उसके पैरो मे वेडियाँ डालने वाले, सही विकास को रोकने वाले नही वन जाने चाहिए ।[1]

अगर साधक को जिनाज्ञा और गहरे आत्मचिन्तन से ऐसा प्रतिभासित हो कि अमुक कार्य स्वपर के विशेष उत्कर्ष—कल्याण—का कारण है, और सचमुच ऐसा ही है तो उसे किन्ही भी भावो के वन्धन बगैर कार्य परिणत किया जा सकता है, ऐसी अप्रतिबद्धदशा का यह चित्र है ।

परन्तु इस अप्रतिवद्धदशा का आचरण और विचरण कैसा होना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

---

१ श्रमण भगवान् महावीर को जहाँ और जिस दशा मे अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिबन्धक बनेगा, ऐसा प्रतीत हुआ, वहाँ और उस दशा में उन्होंने अपरिचित व्यक्तियो के बीच, अपरिचित स्थलो में और अनेक सयोगों (परिस्थितियो) में, अनियतकालीन अप्रतिवद्ध विहार किया और जिस दशा में जहाँ यह सब प्रतिबन्धक न लगे वहाँ परिचित स्थलो में परिचित व्यक्तियो के बीच परिचित सयोग और भावो में वारह-वारह चातुर्मास भी बिताए ।

'विचरवु' उदयाधीन पण वीतलोभ जो'

बन्धनरहित विहार, चाहे वह अन्दर का हो या वाहर का, उदयाधीन होना चाहिए।

उदयाधीन का तात्पर्यार्थ है—सहज-स्फुरित। और वह सहज स्फुरण या आन्तरध्वनि सत्य ही है या मिथ्या? उसका प्रमाण यह है कि वह उद्+अय्+अ=यानी ऊँचा ले जाने वाला प्रतीत होना चाहिए। अगर वास्तव मे ऊँचा ले जाने वाला ही हो, तो भी निर्ग्रन्थ साधक को उससे भी सावधान रहना चाहिए। क्योकि, प्रतिष्ठा, यशकीर्ति, सुविधा-प्राप्ति, शिष्य-शिष्याप्राप्ति, भक्तवृद्धि, खान-पानप्राप्ति, या आदराधिक्य आदि किसी भी प्रकार का लोभ सूक्ष्मरूप से भी अन्तर के किसी कोने मे पडा हो तो वह एक गाँठ छुडाकर दूसरी गाँठो मे बाँध देता है। इसीलिए इसके आगे एक विशेषण जोडा गया है—'वीतलोभ'। यानी अप्रतिबद्ध-विचरण (प्रवृत्ति) उदयाधीन हो तो, किन्तु साथ ही वह वीतलोभ यानी किसी भी प्रकार की आकाक्षा, कामना, स्पृहा या लालसा से रहित होनी चाहिए।

जिसने कर्मों (क्रियाओ) के फलमात्र की कामना छोड दी है अथवा जिसने अपने-आपको वीतरागचरण मे या वीतराग के चुस्त उपासक गुरुचरण मे समर्पित करके विश्वात्मसिन्धु मे विलीनता प्राप्त कर ली है, उसकी ऐसी सहजदशा होनी स्वाभाविक है।

अहो नाथ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?...

निष्कर्ष

पहले कहे हुए पाँच पद्यो मे जैनदृष्टि के विकासक्रम के चौदह गुणस्थानको मे से छठे गुणस्थान तक का सम्बन्ध बताया गया है। यह छठा पद्य मुख्यत. सातवे गुणस्थानक से सम्बन्धित है और अब आगे आठवे पद्य तक सातवे से लेकर बारहवे गुण स्थानक तक की सकलना की गई है।

सातवे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान एक प्रकार से मन की परिणाम-धाराएँ है। उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी एक मुहूर्त से भी कम जैन-आगमो मे वताई गई है। इसलिए बारहवे गुणस्थान पहुँचने तक साधनाजीवन पतन और उत्थान या ज्वार और भाटे की तरगो के बीच झूलता रहता है। ऐसा होते हुए भी वहाँ आन्तर दिशा का तारतम्य (न्यूनाधिक्य) होने से उसकी अलग-अलग कक्षाएँ नियत की गई है। सातवे गुणस्थान मे क्रोध का सर्वथा अभाव हो जाता है, यानी आवेश के कारण उसकी आत्मस्थिरता का पतन सम्भव नही है। परन्तु मान, माया, और लोभ के अंकुर इसमे मौजूद रहते हैं। इसी तरह 'मैं स्त्री हूँ या मैं पुरुष हूँ' इस प्रकार का वेदनरूप भान भी जो कि लैंगिक आकर्षण का कारण है, रहता है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा जैसे भावो का स्पर्श भी उसे होता है। आठवें गुणस्थान मे मान नष्ट हो जाता है। नौवे मे माया और वेदभाव दोनो एक साथ दूर हो जाते है। दसवे मे एकमात्र सूक्ष्म लोभ ही रह जाता है, वाकी सव हट जाते है। यही कारण है कि अगर उपशमश्रेणिवाला जीव हो तो ग्यारहवे गुणस्थान की भूमिका का स्पर्श करके फौरन पतन के चक्र मे वापस लौटता है और यदि वह क्षपकश्रेणिवाला हो तो ग्यारहवे गुणस्थान को स्पर्श न करके दशवे से सीधे बारहवे (क्षीणमोह) गुणस्थान की भूमिका मे प्रतिष्ठित हो जाता है। बाद मे उसका पतन बिलकुल सम्भव नही होता। और अन्तर्मुहूर्त जितने समय मे ही वीतरागता की पराकाष्ठा तक पहुँचकर वह आत्मा अपने सहज सम्पूर्णज्ञान—केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

ऐसी सिद्धि प्राप्त करने के लिए सयम के हेतु से या प्रभुभक्ति के हेतु से ग्रहण किये जाने या मिलने वाले पदार्थों मे भी उनका उपयोग करने से पहले या उपयोग करते समय तथा उपयोग करने के बाद आत्म-स्थिरता (आत्मसुरता) मे भंग न पडे, इसके लिए प्रतिपल सावधान[1]

---

१ इसीलिए ही पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनमाताएँ

रहना चाहिए। व्यवहार, वाणी या विचार मे पाँचो प्रमादो मे से एक भी उसके मन को न डिगा दे, इसकी पहरेदारी रखनी चाहिए। (क्योकि मन के डिग जाने पर सभी के डिग जाने का भय है) तथैव अपनी विकास-कक्षा के अनुसार प्रतिभासित होने वाले सत्य को यथार्थरूप से कस लेने के वाद किसी भी द्रव्य, किसी भी क्षेत्र, किसी भी काल या किसी भी भाव के वन्धन मे लिप्त हुए विना किसी भी प्रकार के प्रलोभन की स्पृहा रखे विना, अप्रतिवद्ध, अस्तव्व (विना रुके), अप्रतिहत, या अस्खलित-रूप से आचरण करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

[७]

अप्रमत्त दशा मे रहे हुए साधक के सोपानो का क्रम अव बताया जा रहा है :—

क्रोध[1] प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता
मान प्रत्ये तो दीनपणानु' मान[2] जो;
माया प्रत्ये माया[3] साक्षीभावनी;
लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान-जो। अपूर्व ॥७॥

अर्थ—क्रोध के प्रति ही सहज रूप से क्रोध हो; यानी अक्रोधता

श्रमण साधक की रक्षा करने के लिए नियत की गई है। (देखो, उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २४)

१ कल्याण मन्दिर स्तोत्र के रचयिता आचार्यश्री वीतरागदेव की स्तुति करते हुए उत्प्रेक्षालंकार मे एक श्लोक कहते हैं—'हे प्रभो! आपने क्रोध को सर्वप्रथम मार दिया यानी क्रोध के प्रति तो क्रोध किया, परन्तु क्रोध के खत्म हो जाने के वाद दूसरे शत्रुओ को कैसे जीता? क्योकि क्रोध किये बिना तो जंग खेला ही कैसे जा सकता है?' इस गूढ उक्ति का यहाँ सुन्दर समाधान है।

२. यहाँ मान का अर्थ सम्मान या आदर है।

३ यहाँ माया का अर्थ प्रीति है।

सहज स्वाभाविक बनी रहे। मान के प्रति दीनता का मान हो, अर्थात् मान के अक्कड़पन (घमण्ड) का मान (आदर) होता है, उसके बदले अत्यन्त नम्रता का मान (आदर) हो ! माया के प्रति साक्षीभाव की माया हो, अर्थात् सांसारिक माया (कपट) में साक्षीभाव (तटस्थ भाव) की माया (प्रीति) खोनी पड़ती है, उसके बदले साक्षीभाव में ही प्रीति पैदा हो ! और लोभ के प्रति लोभ के तुल्य न बनूं अर्थात् लोभ जैसे दूसरो को लुभाकर अपनी ओर खीच लेता है, वैसे ही आत्मा शुभ या अशुभ किसी भी सांसारिक भाव को (लुब्ध होकर) स्वय न खींचे, तथापि पूर्वाध्यास के कारण शुभाशुभ भाव खींचे चले आएँ तो भी स्वयं निर्लेपदशा (अलुब्धभाव) में स्थित रहे।

अहो मेरे अन्तर्यामिन् ! ऐसी अवस्था कब आएगी ? ऐसा परम पुनीत क्षण कब आएगा ?...

विवेचन : इससे पहले के पद्य मे राग, द्वेष और प्रमाद की समुच्चय-रूप मे बात थी। यहाँ सिर्फ कषाय-विजय से सम्बन्धित बात कही गई है। इस प्रकार छठे से लेकर तेरहवे पद्य तक मे कही गई बाते महारण-सग्राम को सूचित करती है। जब आमने-सामने के विजयगर्विष्ठ महारथी युद्ध के मैदान मे उतर पडते है, तब वह युद्ध रणचण्डी का रूप धारण कर लेता है। सामान्य सैनिको के साथ सामान्य सैनिक लडते हैं, वहाँ खून की नदियाँ बहने लगती है, फिर भी इतना जबरदस्त झनून दोनो पक्षो मे नही होता, जितना कि मुख्य सेनाएँ जब स्वय एक-दूसरे पर टूट पडती है, तब होता है। इसका कारण तो यह है कि विजयमाला लेकर देवियाँ खडी सोचती है कि किसके गले में इसे डालूं ? इसीलिए ऐसे समय मे पूरी कसौटी करने वाला खरा खेल होता है। ठीक यही दशा साधक के इस आन्तरिक महासमर मे यहाँ होती है।

राग और द्वेष के चार—क्रोध, मान, माया और लोभरूप सेना-नियो (युद्ध-विशारदो) के साथ आत्मा को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर एक बार तो लड ही लेना पडता है। जो आत्माएं मूल से ही शुद्ध ज्ञान

और क्षायिक[1] सम्यक्त्व रूपी शस्त्र प्राप्त कर चुकी होती हैं, उनके पक्ष मे लगभग विजय की सम्भावना है और इसी अवस्था मे अगर उसने पूर्ण संयम और अप्रमत्तता के शस्त्रो से क्रोध को जीत लिया तो फिर वह क्रमशः शेष सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके ही दम लेता है। अर्थात् आठवें गुणस्थानक से जो जीव क्षपकश्रेणि पर चढ गया, वह अवश्य ही विजय प्राप्त करेगा, यह आध्यात्मिक विज्ञान वेत्ताओ की भविष्यवाणी है।

परन्तु उसके गले मे विजयमाला आरोपित होने से पहले उसकी दशा कैसी होती है ? वह देखिए :

'क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता'

यहाँ सबमे पहला नम्बर आता है क्रोध का। और यह तो साफ है कि क्रोध ही जल्दी-से-जल्दी सर्वप्रथम खुल्ला (प्रगट) हो जाता है। क्रोधी मनुष्य अधिक समय तक अपना स्वरूप शायद ही छिपा सकता है। क्रोधी का क्रोध के समय मानसिक उतार-चढाव, चेहरा और उसकी खासियतो का तुरन्त पता लग जाता है, उसकी फौरन कलई खुल जाती है। क्रोध का पता लगाने मे ये सब लक्षण दर्पण का काम करते हैं। इतनी सरलता से मान, माया और लोभ की परख नही हो सकती।

चारो कषायो के तात्त्विक लक्षण और उनके मुख्य प्रभाव

आवेश, रोष, जोश ये क्रोध के मूल लक्षण है। संकुचितता मान का मूल लक्षण है। अस्पष्टता माया का मूल लक्षण है और परवशता लोभ का मूल लक्षण है। इन चारो कषायो[2] को देखते हुए इनके दो जोडे

---

१. क्षयोपशम, उपशम और क्षायिक, ये सम्यक्त्व के तीन भेद हैं। क्षयोपशम से सम्बन्धित बातें पहले आ गई हैं। तीनो का अधिक विवेचन अब आएगा।

२. हास्य (कुतूहलात्मक) सुख-दुःख, भय, घृणा, शोक और वैषयिक विकारवेदन इन सबका असर 'नोकषाय' के रूप मे कषायो से भिन्न प्रतीत होते हुए भी—कषायो जैसा ही होता है।

बन सकते हैं । पहले जोडे का समावेश राग मे और दूसरे का समावेश द्वेष मे हो सकता है ।

ससार का मूल लोभ से शुरू होता है। इस बात को वृहदारण्यक[1] उपनिषद् मे सुन्दर ढग से बताई गई है । मान लो कि एक ऐसा मोहक पदार्थ है जिसके प्रति आप आकर्षित हो गए, और उस पदार्थ के प्रति-द्वन्द्वी भी आकर्षित हुए हैं तो उसे सबसे पहले प्राप्त करने की लालसा आपमे जागेगी । ऐसी लालसा आपको अपने मित्रो के साथ स्पष्टता करने मे बाधक बनेगी, यह निश्चित है । वे इस बात को न जान सकें, इसके लिए आप कपट का आश्रय लेंगे । शायद वे कभी पूछ बैठेंगे तो आप उस बात को टालमटूल करने की कोशिश करेंगे अथवा विश्वासघात या प्रपच करेंगे और उस पदार्थ की चिन्ता मे आप अपनी विशालता को भूल जाएँगे । और अगर वह पदार्थ आपके पास आ रहा है या आ गया है, (प्राप्त हो गया है) इसका पता लगते ही आप गर्व से फूल उठेंगे और उस गर्व के कारण आप अपने धर्म को ताक मे रख देंगे अथवा मान लो कि इस प्रतिद्वन्द्विता मे दूसरे सफल हो गए और आप हार गए तो वह चाहे आपका घनिष्ठ मित्र हो या कोई और, आप उस पर आगवबूला होकर बरस पडेगे । इस प्रकार का यह सर्वनाश का क्रम है ।

ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण लीजिए । मान लो कि आपको एक अच्छी बात को दूसरे के दिमाग मे ठसाने का लोभ हुआ, अर्थात् यह मेरी सुन्दर बात मेरे आत्मीय समझे जाने वाले व्यक्ति को तो माननी ही चाहिए, ऐसा आग्रह (यद्यपि ऐसा आग्रह अपने प्रति होना चाहिए उसके बदले) दूसरे के प्रति हुआ । इसके बाद वह मेरी इस बात को किस तरह माने, ऐसा विचार आया और आपने उक्त व्यक्ति से अपनी बात मनवाने के लिए इस ढग से दूसरो के आगे रक्खी जिसमे

---

१ 'सोऽकामयत, एकोऽहं बहु स्याम्, स तेन तपोऽतप्यत', अर्थात् उसने यह कामना की कि मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ और उसके लिए उसने तप किया और संसार शुरू हुआ ।

कितनी ही चीजें छिपानी पडी, इसलिए माया हुई। फिर वह बात आपके नजदीक के लोगो मे से किसी ने या किन्ही ने मान ली, इसलिए आपको उसका अभिमान हुआ और जिन्होने न मानी उनके प्रति रोष, नफरत या आवेश पैदा हुआ। अत कोध हुआ। इस प्रकार यह चाण्डालचौकडी एक दूसरे के साथ अच्छी तरह जुडी हुई है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है

'कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो,
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो।'

'क्रोध प्रीति का, मान विशिष्ट नीति का, माया मैत्री का और लोभ सबका विनाश करता है'। इस दृष्टि से लोभ सर्वनाश का मूल है। इसके बारे मे पहले कहा जा चुका है। मोह और लोभ ये दोनो बदले हुए वेष के सिवाय एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। इसलिए मूल मे एक ही हैं।

क्रोध का प्रभाव शरीर-पर्यन्त जल्दी पहुँच जाता है, मान का प्रभाव बुद्धि और मन तक भी रह सकता है, माया का प्रभाव हृदयपर्यन्त भी रह सकता है, किन्तु लोभ का प्रभाव ठेठ आत्मा तक गाढ और प्रच्छन्न रूप से रह सकता है। इस तरह ये सब उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है। इसी कारण क्रोध सब से पहले विदा होता है, उसके बाद मान और तदनन्तर माया और सबसे अन्त मे लोभ विदा होता है। लोभ का सर्वांगरूप से जीत लिया तो समझ लो सर्वस्व जीत लिया। परन्तु लोभ इतना जल्दी पहचाना नही जाता, और न पकड मे आता है, इतनी गूढ यह चीज है। शुभ हो या अशुभ, सत्प्रवृत्ति हो या असत् सबमे इसका गूढ प्रभाव है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सर्वत्र यह अपना पजा जमाए रहता है। लोभ पूर्णरूप से क्षीण हो जाने पर साधक की दशा केवल, सर्वांगी और सहज होती है, परन्तु यह दशा अनिर्वचनीय, शब्दातीत दशा है। इसे प्राप्त करने के लिए तो सत्प्रवृत्ति का आदर किये बिना कोई चारा नही है। सत्प्रवृत्ति अर्थात् विचार, वाणी और

व्यवहार मे सत्य को ओतप्रोत करने की आत्मतल्लीनता। सत्प्रवृत्ति मे आत्मलीनता के लिए ही कहा है

'क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता'

क्रोध के प्रति ही स्वाभाविक क्रोव पैदा हो तो आत्मा अपना भव्यत्व सहज प्रगट करता है, समझना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि कोध का अर्थ यहाँ आवेश किया जाय तो आवेश का तात्पर्य ही अनात्मभाव होता है, और ऐसा होने पर शरीर तक इसका मुख्य असर होता है। कितना हलाहल जहर है यह! विद्या चाहे जितनी प्राप्त की हो, लेकिन क्रोव आया कि क्षण-भर मे उसका पानी उतर गया। शक्ति और सुन्दरता चाहे जितनी मिली हो, क्रोध के आते ही उसमे हिंसा और वेडौलपन आ ही जाता है। जैन आगम मानसशास्त्र के एक सूक्ष्मता-भरे सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—नारकजीव को क्रोध ज्यादा होता है और इसी कारण उसका शरीर बिलकुल बेडौल और दुर्गन्धमय होता है। क्रोधी का अन्तरंग शरीर शायद ही इस वर्णित लक्षण[1] से विपरीत हो! इसीलिए कहा है कि इस दशा मे स्वभावरमणता कायम रहनी चाहिए।

---

१ इसी कारण मनुष्य प्राथमिक भूमिका में अत्यन्त संकुचित बन जाता है। पशुओ में अपनो के प्रति जितनी मिलनसारी होती है, उतनी भी प्राथमिक भूमिका के मनुष्य में नहीं होती। लेकिन धीरे-धीरे उसका विकास होता जाता है। ज्यों-ज्यो विकास बढ़ता जाता है, त्यो-त्यो वह व्यापक होता जाता है। तिर्यञ्चयोनि मे माया ज्यादा होती है। शरम और भावावेश के प्रवल तत्त्व इनमे स्पष्ट होते ही हैं। वस्तुत उनका अन्तरंग मन भी भावावेश-प्रधान होता है। स्वाभाविक अंधप्रेरणा (ओघ संज्ञा) से ही उनका आहार, विहार, वंशवृद्धि आदि व्यवहार होता है। खनिज प्राणी से लगाकर श्वान, गाय, अश्व और वन्दर तक मे यह बातें न्यूनाधिक रूप मे पाई जाती हैं। परन्तु देवगति मे इससे ठीक उलटी बातें पाई जाती हैं।

यहाँ जिन कषायो की बात कही गई है वे[1] सज्वलन-रूप के हैं। सज्वलन का क्रोध पानी मे खींची हुई रेखा के समान है। फिर भी इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ आत्मा को इस रेखावत् क्रोध की विद्यमानता का भी अपार दुःख होता है, क्योकि आत्मार्थी पुरुष को आत्मा मे गडा हुआ यह काँटा पहले तकलीफ देता था, उसकी अपेक्षा अब आत्मा की प्रशान्त समाधि अवस्था के स्पर्श मे विक्षेप डालकर अधिक पीडा देता है, इसलिए अधिक खटकता है। जैसे किसी तैराक को जलाशय का किनारा नजदीक दिखाई देता हो, उसी समय उसके हाथ थक जाँय या कोई जीव उसे पकडकर हैरान करे तो उसे जितना दुःख होता है, वैसा ही दुःख इस तीरासन्न साधक को होता है। क्षमा क्रोध को जीतने का हथियार जरूर है, मगर स्वभाव-स्मृति स्थिर हुए बिना क्रोध का बीज जलता नही। क्रोध को पार करने के बाद मान की बारी आती है। इसलिए कहते हैं :

'मान प्रत्ये दीनपणानुं मान जो'

मान ही तो विश्व जितने विराट्स्वरूप (मनुष्य) को शरीर मे पूरित कर रखता है, ठाठें मारते हुए वात्सल्यरस-सिन्धु को अमुक ही पात्र मे बन्द कर रखता है। अभिमानी मानव अकेला और अलग-थलग होता

---

१. इस भूमिका मे अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी ये तीन कषाय चौकडियाँ नही होतीं। परन्तु मूल में देखा जाय तो संज्वलन कषाय और अनन्तानुबन्धी कषाय मे कषायत्व द्रव्य की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं पडता। अन्तर सिर्फ काल, क्षेत्र और भाव का है। यानी अनन्तानुबंधी की अपेक्षा अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषाय उत्तरोत्तर क्रमशः कम काल तक टिकते हैं, कम हैरान करते हैं और सभी करणो पर क्रमशः कम प्रभाव डालते हैं। परन्तु जहाँ तक मूल मौजूद है, वहाँ तक वह उच्च साधक को दम नहीं लेने देता, यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।

जाता है। और त्यो-त्यो उसकी विकसित होती हुई शक्तियो का प्रवाह रुकता जाता है। एक अदने आदमी से लेकर सातवे गुणस्थान के अधिकारी तक के मानव मे न्यूनाधिक रूप मे अभिमान का काटा रहता है। मद और कषायो के वर्णन मे मान का जो वर्णन इससे पहले के पद्य मे किया गया है, उसकी अपेक्षा यहाँ सूक्ष्म-रूप से रहे हुए मान का कथन है। सूक्ष्म अभिमान के दर्द को ऐसा साधक विनीत होकर मिटाता है। अर्थात् जब भी साधक के मन पर अभिमान आक्रमण करता है, वह तुरत अणुस्वरूप दीनता, फकीरी, नम्रता, विनीतता और कोमलता के मान (सम्मान) के रूप मे उसे परिणत कर देता है। जैसे, उसके मन मे यह विचार आया कि 'मेरी महिमा के कितने सुन्दर गीत गाए जाते है!', तो फौरन इसके खिलाफ वह मन को आन्दोलित करेगा—"अरे! महिमा गान तो नाथ का होता है, चाकर का नही! मैं तो ज्ञानी पुरुषो या वीतराग प्रभु का चरणकिंकर हूँ, इस शरीर की गाई जाने वाली महिमा तो दीनानाथ की है, क्योकि मैं तो उनके चरणो मे समर्पित हो चुका हूँ।"

ऐसा विचार साधक को अपने-आप अपरिमेय (असीम) भावो की ओर खीच ले जायगा। यह एक कुदरती नियम है कि जिसकी आत्मा जितनी हलकी (कर्मों के बोझ से दूर) होती है वह उतना ही उच्च वनता है। जिसे अणुरूप बनने के प्रति आदर है, वह सचमुच दीनानाथ वनता है। जो अपने को अणु से भी अणु हृदय से मानता है, वही महान्-से-महान् वनता है। कदाचित् यहाँ आप शका करेंगे कि तो फिर 'मनुष्य अपनी भावना के अनुसार ही (छोटा या वडा आदि) बनता है, यह सिद्धान्त गलत ठहरा!' इसका समाधान तो स्पष्ट है कि हृदय की इतनी दीनता (नम्रता) परमात्मा के प्रति प्रगट करनेवाला साधक सासारिक प्रलोभनो के आगे पामर या सकटो के सामने दीन-हीन नही वनता। वहाँ तो वह अमीरी (आत्म-शक्ति रूपी पूँजी की) विशेषता रखता है। जबकि खुद को 'अह ब्रह्मास्मि' माननेवाला भी ऐसे सयोगो (परिस्थितियो)

मे कगाल और कायर वन जाता है। इस पर से यह सिद्ध हुआ कि वास्तव मे महान् आशय रखनेवाला ही सच्ची गरीबी धारण कर सकता है। जिसकी हड्डी सहजरूप से मुलायम और नम्र है, वह हर परिस्थिति मे अभिमान की वेड़ी से मुक्त ही रहता है।

इतने वन्वनो से छूटने के वाद भी साधक को माया का मगरमच्छ पकड लेता है। अपनी भूलो को नम्रतापूर्वक खुल्लमखुल्ला प्रगट करने आदि का जिसे सहज अभ्यास हो गया है, ऐसे साधक मे भी अमुक वात उत्तम है, परन्तु अमुक समय मे और अमुक को ही कहने-जैसी है, दूसरे को नही, ऐसी-ऐसी सात्त्विकता का सग्रह करने की वृत्ति भी रह जाती है।[1] पुरुष आगामी जन्म मे पुरुष होना चाहता हो, लेकिन उसे स्त्री का जन्म मिलता है, तो ऐसा होने मे ऐसी वृत्ति कारणभूत होती है, यो जैनतत्त्व-ज्ञान कहता है। असल मे तो वेदभान का मानसशास्त्र की दृष्टि से इसके साथ सम्वन्ध है, फिर पुरुष स्त्री वने या स्त्री पुरुष वने। परन्तु जहाँ तक अस्पष्टता है, वहाँ तक जन्ममरण का चक्कर है। यहाँ जो 'माया' की वात कही गई है, वह वहुत वारीक है। इसीलिए कहा है

'माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी।'

माया भले हो, पर वह माया (प्रीति) साक्षीभाव के प्रति हो और ऐसी भूमिका मे ऐसा क्षपकश्रेणिवाला जीव, इसी भाव को रखकर माया को पार कर जाता है। अर्थात् जव भी माया करने (छिपाने का) भाव आया कि उसी समय उसका निराकरण। उधार विलकुल नही रखता। ऐसे साधक को एक भी विकल्प का परिग्रह रखना नही पोसाता। वह तो साक्षीरूप मे ही रहता है। जैसे न्यायालय मे वादी-प्रतिवादी चाहे जितने उवले, एक-दूसरे पर गुस्से मे उछलें, पर आदर्श साक्षी (गवाह, द्रष्टा) को तो सिर्फ उसने जो कुछ देखा है, वही ठडे कलेजे से कहना

---

१ यहाँ श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में वहुमान्य तीर्थंकरी भगवती 'मल्लि' का पूर्वभव-जीवन मननीय है।'

होता है, न तो अधिक, न कम ! इसी प्रकार ऐसी उच्चकोटि का आत्मा न तो इसमे शामिल होता है न उसमे ! अर्थात् जलकमलवत् निर्लेप[२] रहता है। जितने अश मे साक्षीभाव के प्रति माया (प्रीति) लगती है उतने अश मे ससार (जन्ममरणचक्र) छूटता है और जितने अश मे संसार की (मोह) माया लगती है, उतने अश मे साक्षीभाव छूटता है। परन्तु इतनी दूर पहुँच जाने पर भी एक अन्तिम, किन्तु बडे-से-बडा आवरण आत्म-रवि के पूर्ण प्रकाश को रोके रखता है। इसीलिए कहा है ·

'लोभ प्रत्ये नहि लोभसमान जो।'

अर्थात् लोभ के सामने लोभ-जैसा नही बनना। यह बात बहुत ही दुष्कर है। इससे पहले के पद्य मे 'वीतलोभ' स्थिति की बात आई थी। परन्तु यह बात उससे भी ऊँची है। माया के सर्वथा छूट जाने से आत्मा स्वय उसकी ओर न खिचे, यह हो सकता है, स्वय किसी भी प्रकार की इच्छा (लोभ) न रखे यह भी सम्भव है, पर उसके पास खिचकर कोई आए और गले ही पड जाय तो उसका क्या इलाज ? यद्यपि कोई स्वय आकर्षित होकर आए और गले ही पड जाय, उसके पीछे सूक्ष्म कारण तो अपने मे ही रहे हुए हैं, नही तो ऐसा सभव नही है ! इसलिए कहा गया है कि ऐसा साधक न तो लोहा बने और न चुम्बक ही। लोभी को जैसे लोभ खीच लेता है और अन्त मे लोभी और लोभ दोनो पीडित

---

२ श्रमण भ० महावीर के साधनाकाल का एक प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध है, बाद के साहित्य में उसका कामसेना के रूप में रूपकालंकारपूर्वक वर्णन है —'बिचारी कामिनी सेना वीर ने शुं करी शके ? रोमे-रोमे भर्यो प्रेम, विकारो श्ये नडी शके !' इसकी अपेक्षा भी अधिक स्पष्ट, सचोट और समता की पराकाष्ठा का चित्र कामविजेता मुनि स्थूलिभद्र का कोशा वेश्या के यहाँ के प्रसंग से जान लेना चाहिए। साक्षीभाव की सम्पूर्ण वफादारी विना ऐसी परिस्थिति में गर्व या पतन से बचना अशक्य है।

होते है, वैसे ही ऐसे साधक मे समस्त शक्तियाँ सागोपाग रूप से विकसित हो जाने से जगत् उसकी ओर तारक के रूप मे या परमात्मा के रूप मे निहारने लगता है । इसमे वह विचलित हुआ—अर्थात् अपनी अपूर्णता को पूर्णता मानकर अटक गया—तो ठेठ पेंदे मे जाकर बैठने का समय आ जाता है। वह स्वय भी डूबता है और उसकी शक्तियाँ भी।

क्षपकश्रेणीवाला जीव द्रष्टा बनकर यह सब नाटक (तटस्थभाव से) देखता रहता है । इसीलिए डोरी पर नाचते हुए नट की तरह वह अपनी सूरता (आत्मध्यान) निश्चलरूप से टिकाए रखता है । और इस सारे इन्द्रजाल के तमाशे को मन मे आया कि अन्तमुहूर्त मे ही निपटाकर (समेट कर) वापिस सदा के लिए सच्ची सडक पर आ जाता है । अहो! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ।

निष्कर्ष

मुक्ति की भूमिका पर स्थिर न हो जाय वहाँ तक साधक के लिए कदम-कदम पर फिसलने का भय रहा हुआ है । सदा काजल की कोठरी मे रहने वाले के लिए निर्लेप (निरजन) रहना कठिन, अत्यन्त कठिन, महाकठिन है! दुर्गुण जिस निमित्त से पैदा हुआ, प्रायः उस निमित्त पर ही (सामान्य साधको की) दृष्टि जाती है, इसीलिए उस निमित्त की निन्दा की जाती है, और वह दुर्गुण ज्यो-का-त्यो रह जाता है । फलत वह दुर्गुण एक निमित्त को छोडकर दूसरे निमित्त के साथ (साधक को) भिडाकर खिाता फिरता है । यदि दुर्गुण के प्रति ही जुगुप्सा पैदा हो तो वह दुर्गुण हटा कि उसकी जगह सद्गुण ले लेता है । क्रोध पर वास्तव मे क्रोध हुआ हो तो विभाव को हटाकर स्वभाव उसकी जगह ले ही लेगा । जो जितना कम क्रोधी है, वह उतना ही अधिक उदार और प्रेमी समझना चाहिए ।

'मै बडा हूँ' इसके बदले 'मैं लघु से भी लघु हूँ' यह भाव आया कि 'मैं कैसे नमन करूँ ?' यह ग्रन्थी टूट जायगी और हृदय सहजरूप से विशाल हो जायगा । 'अगर वह मेरी यह बात जान लेगा तो क्या

होगा ?' इसके बदले जहाँ 'सारा विश्व मेरा कुटुम्ब है वहाँ मैं किससे और क्या छिपाऊँ ?' यह भाव आया कि उस साधक के विचार, वाणी और व्यवहार (कर्म) एक छोटे से कोने मे प्रवर्तित होते होगे, फिर भी उनका स्थान अखिल विश्व के हृदय मे नियत हो चुकेगा। कैसा है उस साधक का सामर्थ्य ! वह जहाँ-जहाँ जायगा वहाँ-वहाँ भवसागर उसे मार्ग दे देगा ?

'अहा ! मैं कितना चमत्कारी हूँ ! मेरी बाँसुरी के नाद के सामने कौन नही डोल उठता ?' इसके बदले 'मैं[1] ही सर्व हूँ' यह भाव आया कि उससे क्या अज्ञात रहा ?

इसके बाद के पद्य ऐसे पुरुष की मनोदशा को व्यक्त करेंगे और अन्तिम पद्य परिणाम बताएगा। इस वर्णित भूमिका मे धर्म[२]-ध्यान और शुक्लध्यान दोनो होते हैं। परन्तु क्षपक श्रेणिवाले आत्मा के लिए अन्तिम प्रतिष्ठान क्षेत्र तो शुक्लध्यान ही है, उसमे ही उसे एकाग्र होना है।

[८]

पिछले पद्य मे क्रोधादि रिपुओ को जीतने मे कलाकार की कला का सुन्दर दर्शन था। इसमे उसका जीवनव्यापी परिणाम प्रगट हो रहा है —

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि,
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो,
देह जाय पण माया थाय न रोममां;
लोभ नहि छो प्रबल सिद्धिनिदान जो ॥ अपूर्व··· ८॥

---

1 Heart of Rama

२ आत्मेतर भावों में जाने पर भी आत्मभान को खोने से पहले सावधान हो जाना धर्मध्यान है और आत्मभान के उच्च-से-उच्च शिखर पर चढ़ते जाना शुक्लध्यान है।

अर्थ—प्रत्यक्ष कोई भी कारण न हो फिर भी बचने का कोई भी मौका दिये वगैर या सावधान किये वगैर प्राणों पर अप्रत्याशित आक्रमण करनेवाले के प्रति भी लेशभर आवेश न आए। सत्ता, सम्पत्ति, शक्ति, साधना और शासन इन पांचो पदार्थों में सर्वोपरि समझे जाने वाले चक्रवर्ती का किसी के आगे नहीं झुकनेवाला मस्तक भी झुक-झुक कर चरणधूलि अपने सिर पर चढ़ाए, फिर भी अभिमान का एक भी अंकुर न पैदा हो। शरीर जाता हो तो भले ही जाय, पर मेरे एक भी रोम में माया का स्पर्श न हो ! सारे संसार को अपने चमत्कार से प्रभावित कर दे ऐसी प्रवल सिद्धियाँ स्वाभाविक रूप से हाथ जोड़े खडी हों, फिर भी परवस्तु में स्वयं न फंसे; सिर झुकाए हाजिर खड़ी सिद्धियों को भी संसार का प्रत्यक्ष कारण जानकर उनसे आत्मा अलिप्त रहे !

अहो वीतराग देव ! ऐसे अमूल्य क्षण कब आएँगे ?

विवेचन—अनात्मभाव के जलवुद्‌वुद् मे आत्मा शामिल न हो तो आवेश का कोई कारण नही रहता। इतनी ऊंची अप्रमत्तदशा जिसे सहज प्राप्त हो चुकी, उस साधक का अव्वल नम्बर का शत्रु क्रोध तो नष्ट ही हो चुका समझो। पर क्रोध जडमूल से चला गया, इसकी प्रतीति क्या ? अतएव कहते हैं —

'बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि'

क्रोधविनाश का पहला नतीजा यह आता है कि उपसर्ग करनेवाले की दृष्टि से भी दिखाई देनेवाला महान् उपसर्ग उसके लिए वहुमूल्य साधन-सामग्री वन जाता है, क्योकि उसे यह प्रत्यक्ष भान हो जाता है कि विश्व मे होनेवाली एक छोटी-सी-छोटी घटना भी अहैतुक नही है।

यहाँ श्री गजसुकुमार मुनि का जीवनप्रसग देखिए —

सोमिल ब्राह्मण को जव यह पता लगा फि 'मेरे जामाता गजसुकुमार ने मेरी पुत्री को अविवाहित अवस्था मे ही छोडकर प्रवल वैराग्य-भावना से प्रेरित होकर सर्वसग-परित्याग करके साधुजीवन स्वीकार कर लिया है; तो वह तुरन्त व्याकुल हो गया और मन-ही-मन विचार करके

चल पड़ा—"मेरी पुत्री को ऐसी हालत मे छोड देने वाले उस जमाई की तलाश करूँ और उसे अपने किये का सबक सिखाऊँ ?"

खोजता-खोजता वह श्मशान मे पहुँचता है और जब वह गजसुकुमार मुनि को ध्यानस्थ खडे देखता है तो तुरन्त ही उसके मन मे प्रवल वैरभाव उनके प्रति पैदा होता है ।

शून्यस्मशान के एक कोने मे नगे पैर मुण्डितसिर श्री गजसुकुमार मुनि कायोत्सर्ग मे खडे है, परिणामो की उन्नतधारा से उत्तरोत्तर गजसुकुमार मुनि की साधुत्ववासित आत्मा ऊपर अध्यात्मगगन मे उड रही है । क्षमा और शान्ति के शीतल फुहारो से चित्त शान्त और शीतल हो चुका है । ठीक उसी समय क्रोध के प्रति क्रोधस्वभावता की सिद्ध हुई साधना की कसौटी होती है ।

सोमिल ब्राह्मण का क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया । उसकी मर्मस्पर्शी वाणी की चोट का हथियार निष्फल हुआ, इसलिए उसने आसपास दृष्टि फेंकी और किसी को आता न देख पास ही जलती हुई एक चिता मे से खैर की लकडी के धधकते अगारे ठीकरे मे लेकर मुनि के मुण्डित मस्तक पर रख दिये । वस, अब क्या था, कोई देख न ले, इस डर से तत्काल वह वहाँ से दौडा ।

गजसुकुमार श्रीकृष्ण वासुदेव के प्रिय नन्हे भाई थे ! सौन्दर्य और सौकुमार्य की मूर्ति थे ! रूपगर्विणी सुन्दरियो के दिल को हरण करनेवाले मोहन थे ! यदुवशी की वाड़ी के ताजे महकते गुलाब के फूल थे ! उन्होने शीत और ताप के कष्ट नही देखे थे, 'खम्मा-खम्मा' के सिवाय अन्य बोल नहीं सुने थे, महल और मानवो से रहित शून्य स्थान भी नहीं देखे थे, और न अनुभव किया था भोगरहित किसी मानवका !

उनके मस्तक की कोमल चमडी तडातड फटती है । सारे शरीर मे अगारज्वाला व्याप्त हो जाती है, किन्तु आपको आश्चर्य होगा कि उस धीर-वीर मुनिपुगव गजसुकुमार की ध्यानधारा विचलित न हुई सो न

हुई। क्योकि उन्होने इस प्रसग को अपने पूर्वकृत कर्म का फल समझा था।[१]

जिस ईमानदार साहूकार ने अच्छी कमाई की हो, उसके सिर पर वहुत ही थोडा कर्ज हो तो वह उसे चुकाने मे क्यो अफसोस करेगा ?

सूत्र के इस कथानक पर विवेचनकार महात्माओ ने इतनी सुन्दर कल्पना करके कलम तोड दी है—'गजसुकुमार ने उस समय यही समझा कि दूसरे कोई ससुर होते तो अपने जमाई को स्थूल द्रव्य की पगडी बँधाते, परन्तु मुझे तो सोमिलजी (मेरे गृहस्थपक्ष के ससुर) ने मोक्ष की पगडी वँधा दी है।"

परन्तु ऐसा आवेशरहित प्रशमभाव अन्त तक तभी टिक सकता है, यदि मान नष्ट हो गया हो। 'मैं गजसुकुमार' इतना भी (देह का) अध्यास[२] होता तो वे क्षमाशील भले ही रह सकते, पर उनका वेडा पार न होता।[३] इसीलिए कहा गया

'वंदे चक्री तथापि न मले मान जो'

इस विषय पर महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि का जीवनचित्र वारम्वार विचार-

---

१ जैनागम कहते हैं कि सोमल के जीव का पूर्व जन्म मे उन्होंने अपराध किया था।

२ उस समय मुनि ने गहराई से यही सोचा कि मैं गजसुकुमार के देह मे भले पूरित हूँ, किन्तु स्वभाव से अखण्ड और निर्वन्ध आत्मा हूँ। और इसीसे अनुभवजन्य आनन्द लूटा। अन्यथा ऐसे प्रसंग मे स्थिरता नहीं रह सकती थी। महात्मा ईसा को ईश्वरपुत्र बताने मे ईसाई-शास्त्रो में जो कारण कहे हैं, उनमें से प्रवल कारण तो वध्यस्तम्भ (क्रॉस) पर लटकते समय वध करने में निमित्त लोगो के प्रति ईसामसीह की व्यक्त हुई उच्चकोटि की विश्ववन्धुता है।

३ जैनशास्त्र कहते हैं—गजसुकुमार मुनि को पुन शरीर धारण न करना पड़ा, अपुनर्धाम में उनकी आत्मा पहुँच गई।

णीय है। भ० महावीर के युग मे मगधसम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) चक्रवर्ती के समान (अपनी कक्षा से) राज्य करता था। उसका सिर भगवान् की भव्य मुद्रा के सिवाय किसी के आगे नही झुकता था। होना भी ऐसा ही चाहिए था।

एक बार मडीकुक्षि नामक चैत्य के आसपास के वनखण्डो मे घूमते-घूमते उसकी पैनी दृष्टि एक ध्यानस्थ चैतन्यमूर्ति मुनि पर पडी। मुनि को देखते ही उसका अग-अग भक्तिरस से आर्द्र होकर चरणो मे नत हो गया। सहसा मुख से वाणी उच्चारित हुई :—

'अहा! कितनी भव्यमूर्ति ? कैसी भव्य कान्ति! मानो प्रभु का साक्षात् प्रतिविम्ब हो!'

यह थे एकान्तवास के अमर आनन्द को लूटते हुए भी स्वयं का अनाथरूप से परिचय देने वाले अनाथी श्रमण!

कायोत्सर्ग पारित होने के वाद दोनो का सुन्दर समागम हुआ। इस बारे मे गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी आश्वासन देती हुई गूंज उठती है :

'एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध।
'तुलसी' संगत साधु की, कटै कोटि अपराध॥'

यही वाणी सम्राट् श्रेणिक के जीवन मे चरितार्थ हुई।

श्रेणिक राजा पर इतना अद्भुत प्रभाव मुनि के वाक्यो का नही पडा था, मुनि के तप और कठिन त्याग का कुछ प्रभाव अवश्य पडा, परन्तु असल मे उसने मुनि की शान्त मुखमुद्रा की रेखाएँ पढ ली थी, और उन्ही का जादुई असर उस पर पडा था।

श्रमण की अकृत्रिम व्यापकता देखकर वह आश्चर्य मे डूब गया। साथ ही मुनि उसकी अनुपम भक्ति को पूर्णतया हजम कर सके, इसे देख कर तो और भी आश्चर्य हुआ। परन्तु मुनि के लिए तो यह सहज था। तथापि उन्हे तो इससे भी ऊँचे उठना था। इसीसे उन्होने अपनी

अनाथता साबित की[1]। आखिरकार श्रेणिक नृप को प्रतीति हुई कि जिसे इतनी सहज सिद्धि प्राप्त हुई है, फिर भी अपने को अनाथ कहता है तो एकाध ग्राम जीतने पर या अधीनस्थ राजा के मुझे नमन करने पर मूछों पर ताव लगाने वाला मैं किस विसात मे हूँ ! 'गुरोस्तु मौन व्याख्यान, शिष्यास्तु छिन्न-सशया' वाली कहावत यहाँ पूरी चरितार्थ हुई।[2]

मान को नष्ट किया जा सकता है, पर माया को नष्ट करना दु शक्य है, यह लोकवाणी है। माया की मोहनी मे तो महादेव जैसे भी चक्कर खा गए, ऐसा पुराण मे चित्र है और यह तो इतिहाससिद्ध बात है कि धधकती खाई मे भी शूरवीरो के अटल निश्चय वल टिके रहे, किन्तु वे ही सुन्दरियो के मृदु स्मित और कटाक्ष के आगे पानी-पानी हो गए। इसीलिए आगे कहा है .

'देह जाय पण माया[3] थाय न रोममां'

मूल आगमो मे वैसे तो इसके अन्य अनेक उदाहरण मिलते हैं, किन्तु जैन-साहित्य मे सुदर्शन सेठ का एक पूर्व जीवनचित्र इस बात पर सोलहो आने घटित होता है।

सुदर्शन नामक नगरसेठ है। उसके देह का सौन्दर्य देवप्रदत्त और मोहक है। नरभ्रमर के रूप मे तो अनेक पुरुप प्रसिद्ध है, परन्तु जिन-जिनकी सुन्दरता के पीछे सुन्दरियाँ आसक्त हो जायँ, फिर भी जिनके एक रोम मे भी विकार जागृत न हो, ऐसे पुरुषो के उदाहरण इस भूतल

---

१. अगर उस समय नरपति के नमस्कार से अनाथी मुनि को ऐसा अभिमान पैदा होता कि "मैं कुछ विशेष हूँ" तो श्रेणिक के सामने वह निरभिमानतापूर्ण उद्गार नहीं प्रगट कर सकते और श्रेणिक के मन पर इतना जबरदस्त प्रभाव भी न पड़ता।

२ देखो श्री उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २०।

३. माया का अर्थ यहाँ कपट [है, किन्तु इसका रहस्यार्थ वेदमान से सम्वन्धित है।

पर अतीव विरले है। सुदर्शन का जीवन-चित्र युगो पुरानी पुरुषजाति की उस कालिमा को पोछ डालने वाला सिद्ध हुआ है।

उसी के नगर मे राजरानी और वह भी रूपरानी, एक बार एकान्त का मौका साधकर सेठ से अनिच्छनीय याचना करती है। योगियों का योग विचलित हो जाय, तपस्वी तपोभ्रष्ट हो जायँ, ऐसे भयकर क्षण थे वे ! महाराज को आँखो के इशारे पर नचाने वाली इस मोहिनी शक्ति को सुदर्शन उत्तर देते हैं

"राजमाता ! आप माता हैं, जगत्-जननी हैं, जननी के हृदय पर बालक का मुख होता है, हाथ नही ! माता के चरणो मे शिशु का मस्तक शोभा देता है ! माँ ! आप तो अमरता की खान है, वात्सल्य रस को पिलाइए और पीजिए ! तुम्हे मेरे कोटिश वन्दन हो, माँ !

नशा जोरदार चढा हुआ था, उसके लिए सुदर्शन का निराकरण पर्याप्त न हुआ। सुदर्शन प्रभु-प्रभु की माला फिराने लगा। शील को बराबर सभाला और उसमे पूर्णत. स्थिर रहा।

रानी के सभी फेंके गए पासे निष्फल हुए। इतने-इतने अनुनय-विनय के बाद भी सुदर्शन की निश्चलता देखकर उसका गर्विष्ठ दिमाग साँप की तरह फुफकार उठा। काम भी न बना और शायद बात भी फैल जायगी तो मेरी बदनामी होगी, इस लिहाज से वह जोर से चिल्लाई—"दौडो-दौडो ! बचाओ, मेरी लाज लूट रहा है यह बनिया !" सेठ पर आरोप लगा और झूठा होने पर भी वह सच्चा सिद्ध कर दिया गया। इज्जत तो मिट्टी मे मिल ही गई, साथ ही सेठ को शूली की सजा भी घोषित की गई। यहाँ आर्षद्रष्टा कहते है .

'शूली का बन गया सिंहासन, अमर 'सुदर्शन' हो गया।
इज्जत के कंकर बनने के, बदले हीरा हो गया ॥'

जो हो सो हो ! पर जिसका रोम भी इस माया से कम्पित न हुआ, उसके लिए शूली सिंहासन रूप हो जाय, इसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है ! माया का अर्थ यदि मूर्च्छा करे तो भी उसे अपने शरीर पर

मूर्च्छा नही थी, ऐसा इस प्रसग से स्पष्ट प्रतीत होता है। मूर्च्छा होती तो वह तिहरी कसौटी मे कभी पास नहीं हो सकता। माया का अर्थ यदि छल करें तो भी महारानी के छल के सामने उसने सत्य की ध्वजा स्पष्ट रूप से फहराये रखी। माया का अर्थ अगर भ्रान्ति किया जाय तो सुदर्शन रानी के सामने अडोल और निर्भ्रान्त रहे, यो कहा जा सकता है।

जैसे शीलरक्षा करने मे निर्मायी सुदर्शन का दृष्टान्त है, वैसे ही शरणागतवत्सल-रूप क्षत्रियप्रण के पालनार्थ आत्मभोग (अपने शरीर का वलिदान) देने तक का मेघरथ[1] महाराजा का दृष्टात प्रसिद्ध है।

यहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम लोकनायक राम के प्रणपालन का चित्र देखिए·

'रघुकुलरीति सदा चली आई, प्राण जाय पर वचन न जाई।'

इतना ही नही, सौतेली माता कैकेयी के प्रति भी प्रत्येक अवस्था मे मातृभाव का प्रवाह चालू रहा। इतनी उनकी अपेक्षा से आंशिक[2] विशेषता है।

मगर इतनी उच्च भूमिका तक पहुँचने के वाद भी एक महाशत्रु को नही जीता, वहाँ तक सव काता-पीजा कपास वरावर है। इसीलिए कहा गया है:

'लोभ नहि छो प्रवलसिद्धि निदान जो'

योग-साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ, जिनके पीछे सारा ससार पागल वना फिरता है, स्वयसिद्ध हो जाने पर भी उनमे फँसना नही, उनके चक्कर मे पडना नही, यह वहुत असाधारण वात है।···

प्रलोभन के दो अश हैं: (१) लैंगिक[3] अन्तिम आकर्षण यानी रूपाकर्षण और (२) दिव्य सिद्धियाँ।

---

१. वैदिक ग्रन्थो में महाराजा शिवि का उदाहरण भी इसके जैसा ही है।

२. ये तीनों दृष्टान्त गृहस्थाश्रमियो के हैं, किन्तु इन तीनो ने उन-उन प्रसंगों में सुन्दर साधुता का नमूना वताया है।

३. माया में लैंगिक (Sexual) आकर्षण कारणभूत होता है, परन्तु इस भूमिका में लैंगिक आकर्षण की अन्तिम सीमा समझनी चाहिए।

पहले प्रलोभन पर विजय के लिए सती राजीमती का जीवन चित्र जैनागम मे प्रसिद्ध है। एकान्त स्थान, विपुल भोगो के अगाव सागर मे से सद्य स्फुरित त्यागजीवन, असहाय (एकाकी) दशा, तरुण व पूर्वपरिचित योगी रथनेमि द्वारा स्वय याचना, फिर भी साध्वी राजीमती न डिगी, निश्चल रही, इतना ही नही, डिगते हुए, चलायमान होते हुए डूँगर (तरुण योगी) को भी उन्होने स्तम्भित रखा। यह उज्ज्वल चित्र तो स्त्री-शक्ति की निर्भयता, निष्कम्पता और सर्वोत्तम प्रतिभा का वज्रलेख है। उस समय साध्वी राजीमती की भूमिका वेदभान को पार कर चुकने की थी। इसीलिए वे इतना कर सकी। और उस तरुण योगी रथनेमि की आत्मा भी उस भूमिका के अत्यन्त निकट पहुँच गई थी, तभी तो वे वह भाव (उद्गार) पचा सके। इस एक अग के जीत लेने पर भी यदि दूसरे बडे अग जीतने वाकी रह गए तो वहाँ वह सम्पूर्ण विजय नही समझी जाती।

एक अनुभवी साधक अपने पत्र मे लिखता है—

"मन, वाणी और काया से ब्रह्मचर्य की आराधना के विना तो मोक्ष का मार्ग खुला नही होता, इस वात का स्वीकार करके भी मैं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि 'जवानी को जीत लेने पर ब्रह्मचर्यदेव का साव लेना कठिन नही है, मगर जगह-जगह और सभी अवस्थाओ मे यत्र-तत्र फैली हुई इन धन, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा, अधिकार, चमत्कार इत्यादि की फिसलनो मे सर्वथा अलिप्तभाव से रहना दुष्कर है, अतिदुष्कर है, इतना ही नही, मुझे तो अशक्य-सा लगता है।"

उपर्युक्त कथन मे पूरी सचाई है, किन्तु अन्तिम शब्द 'अशक्य' के स्थान पर 'दु शक्य' समझने का हम इस पत्र-लेखक बन्धु को अनुरोध करेंगे, क्योकि विरले, बहुत ही विरले आत्माओ ने इन फिसलनो के मोहजाल से मुक्त होने की साधना की है, और वे सफल हुए हैं, ऐसा निश्चित है।···परन्तु इन फिसलनो कैसे छुटकारा से हो ?···

इसे समझने के लिए यहाँ जैन आगम का दृष्टान्त लीजिए—

चित्त[1] और सम्भूति दोनो सहोदर भाई थे। पाँच जन्मो तक वे अपने स्नेह-तन्तु सम्बन्ध के कारण विविध गतियो मे साथ-साथ बन्धुत्व-भाव से पैदा हुए रहे, और जीए। छठे भव (जन्म) मे पृथक्[2]-पृथक् कुटुम्ब मे जन्म लेकर एक ब्रह्मदत्त चकवर्ती के रूप मे और दूसरा चित्त मुनि के रूप मे, इस प्रकार वे दोनो मिलते हैं। छठे जन्म मे इस तरह की पृथक्ता का कारण उत्तराध्ययन सूत्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के मुख से कहलाते है :

"ये भोग ही मेरे लिए आसक्ति (वधन) के कारणरूप हैं। हे आर्य ! हम जैसे (दुर्बलो) से वास्तव मे ये दुर्जेय है। हे चित्त मुने ! (इसीलिए तो) हस्तिनापुर मे महासमृद्धि वाले सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर मैं काम-भोगो मे आसक्त हो गया था और ऐसा अशुभ निदान (नियाणा) कर लिया था।"

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ गा० २७-२८

चित्त मुनि ने अपने आत्मधन को ऐसी (सनत्कुमार चक्रवर्ती के जैसी) समृद्धि के लिए वेचा नही और उसने उसी भव (जन्म) मे सिद्धि साध ली। इतने-इतने विकास के पश्चात् पाँच-पाँच भवो के सहवासी जीव होते हुए भी एक का अध पतन और दूसरा उन्नति की पराकाष्ठा पर ! इतनी वडी अन्तर की चौडी खाई पड जाने का कारण था—'निदानशल्य'[3]। इस निदान के पीछे पडकर तो न जाने कितने ज्ञानियो, ध्यानियो, तपस्वियो और योगीजनो ने अपनी उच्च साधना को धूल मे मिला दिया है ! जैनागम और धर्मग्रन्थ इसके साक्षी हैं।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखो उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १३।
२. चित्त का जन्म श्रेष्ठी कुल मे हुआ था, उसने धन, कामिनी आदि प्रलोभनो का त्याग करके मुनिदीक्षा ली थी।
३ पर (पौद्गलिक या सचेतन) वस्तु में आसक्त होकर आगामी जन्म मे उसकी प्राप्ति का सकल्प करना (आत्मधन खोकर) निदान कहलाता है।

जिस साधक को प्रभुकृपा से आत्मपद मे अडोल श्रद्धा प्राप्त हुई है, वही प्रबल मोहोत्पादक सिद्धियो के निदान से अलिप्त रह सकता है, यह सर्वविदित है।

भगवान् महावीर की साधना मे इन चारो पर विजय पाने के अमोघ प्रसग-चित्र देखिए ·

१ क्रोध, जय और वात्सल्य-वर्षा—चडकौशिक विषधर के प्रचंड विष उगलने पर भी वात्सल्यामृत का सिंचन।

२ मान, जय और विश्ववात्सल्य—मगध नरेश श्रेणिक [की भक्ति] के बजाय पूणिया श्रावक मे उत्कृष्टता के दर्शन।

३. माया, जय और प्रीतिदान—मस्करी गोशालक ने उनके (भ० म० के०) दो शिष्यो पर (भ० महावीर की शिष्य वृत्ति से प्राप्त की हुई) तेजोलेश्या का प्रहार करके उसका दुरुपयोग किया, फिर भी 'गोशालक का कल्याण हो' इस प्रकार के सद्भावो मे रमण। [देखो भगवतीसूत्र शतक १५]

४ लोभ-जय—बारम्बार दैवी तत्त्वो और सिद्धि[1]-चमत्कारो (अतिशयो) के उपस्थित होने पर भी उनसे निर्लिप्त रहे—

---

१ आहारकलब्धि, वैक्रियिकलब्धि आदि जैन परिभाषा में बताई गई लब्धियो को ही वैदिक परिभाषा में सिद्धियाँ कहते हैं। आकाश में उड़ना, विचित्र रूप बना लेना (जंघाचरण, विद्याचरण आदि द्वारा) इत्यादि योगप्रसिद्ध सिद्धियाँ भ० महावीर के चरण चूमती थीं। परन्तु भ० महावीर का जीवन तो इस सहजोक्ति के अनुसार था—"कहाँ यह आत्मा, अमर चिर आनन्द का सिंधु अथाह!
और कहाँ माया क्षणिक भर दीखती, साफ झूठी।"

उन पर जरा भी नजर न दौड़ाई । त्रिलोकीनाथ होते हुए भी पैदल विहार किया । सेवको और भक्तो के अक्षय भण्डारो के बीच भी अमीरी भिक्षा का पात्र ही उनके कर-कमलो मे अमर रहा ।

इसीलिए उन्होने साधक-जगत् को **'लोभ नहि छो प्रबल सिद्धि-निदान जो'** इस दशा की शक्यता के लिए प्रतीति करा दी ।

अहो नाथ ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?...

निष्कर्ष

सातवें से लेकर बारहवें तक के आत्मविकास के सोपानो (गुणस्थानो) का मध्यबिन्दु यह है ।

सोमिल के द्वारा निमित्त बनकर दिया गया अतितीव्र उपसर्ग गजसुकुमार मुनि की आत्मैकाग्रता से प्राप्त हुई परम तितिक्षा के आगे हार खा जाता है, परम तितिक्षा ही जीतती है । वीतराग-विषयक सर्वसमर्पण-भाव से प्राप्त हुई अनाथी मुनि की अनाथता की चिनगारी मगधेश्वर श्रेणिक के नमस्कारजन्य गर्वांकुर को जलाकर भस्म कर देती है । अनाथी मुनि की अमीरी दीनता (शून्यरूपता) जीतती है और मगधेश्वर का गर्व हारता है । कपट-मात्र का मूल वासना और लालसा है । महारानी के छल की कलई निश्छल सुदर्शन का शील-रक्षा का दृढ निश्चय और आत्मभान अन्तत खोल देता है, और उसे परास्त कर देता है ।

रूप से प्रादुर्भूत रथनेमि के आकर्षण को सकल विषयो से सहजभाव से अलिप्त हुई योगिनी राजमती साध्वी का प्रलोभन-विजय जीत लेता है, इतना ही नही बल्कि उसे सावधान कर देता है ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती की समृद्धि का मोहक चित्र 'सभूति' का चित्त-हरण कर लेता है और उसके लिए वे सयम और तप का फल हार[1]

---

१. ग्यारहवें गुणस्थानक से उपशमश्रेणिवाले साधक का पतन होने

जाते हैं, जबकि चित्तमुनि अडोल रहते हैं और उस योगी का अपूर्ण योग पूर्ण होने से वे पूर्णता प्राप्त करते है। और पुद्गलो मे आसक्त होकर हार खाए हुए 'सभूति' ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप मे समृद्धि मे फँसकर परिणामस्वरूप नरकागारदशा प्राप्त करते है।

श्रमणभगवान् महावीर के जीवन मे चारो कषायो के सर्वांगी-सर्वतोमुखी विजय से ही वात्सल्यसिन्धु का विधेयात्मक रूप पूर्णतया सफल होता प्रतीत होता है।

[६]

प्रास्ताविक

'मैं सच्चा कैसे कहलाऊँ ?' मैं जनसमाज मे अच्छा कैसे समझा जाऊँ ? और सुन्दर कैसे दीखूं ? यह तीन प्रकार की भावना समस्त जीवो मे प्रबल मात्रा मे दिखाई देती है। और यह भावना मूल मे तो 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दरम्' से अनुप्राणित आत्मस्वरूप की है, परन्तु जहाँ तक 'मैं शरीर, प्राण और मन हूँ', ऐसा भान जीव को होता है अथवा ऐसा भान होने की सम्भावना रहती है, वहाँ तक यह भाव, शारीरिक चालढाल, वाचिक बोलचाल और मानसिक सकल्प-विकल्पो मे उतरकर कृत्रिमता का अधिकाधिक पोषण करता है। कृत्रिमता का पोषण इसलिए करता है कि आत्मा के मौलिक धर्म कभी आत्मा से पृथक् शरीरादि मे स्वाभाविक रूप से प्रादुर्भूत हो ही नही सकते। जो बाते धर्मस्वभाव मे न हो, उन्हे (औपचारिक रूप से) लाने का प्रयत्न करना ही कृत्रिमता का पोषण कहलाता है। वस्तुमात्र का यह एक व्यापक और सनातन नियम है कि उसके स्वाभाविक गुणो को विकसित

पर वह ठेठ प्रथम गुणस्थानक के सोपान पर आ जाता है, इस मान्यता का ज्वलन्त प्रमाणयुक्त उदाहरण सम्भूति के जीव का ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में जन्म लेना है।

करने के लिए वाह्य-सामग्री की सहायता की अपेक्षा बहुत कम रहती है। जबकि वैभाविक गुणो को ही वाह्य-सामग्री की सहायता की वहुत जरूरत पडती है। परन्तु वे स्वाभाविक गुणो से परे होने के कारण स्थायी नही रहते और न ही वे वास्तविक लज्जत प्राप्त करा सकते हैं। इसलिए अन्त मे तो जीव को स्वाभाविक गुणो के विकास करने के राज-मार्ग पर ही आना पडता है और पहले ली हुई सारी सहायता और मेहनत व्यर्थ जाती है। इतना ही नही, इसके कारण स्वाभाविक गुण जितनी मात्रा मे दव गये है, उतनी ही गहराई मे जाकर उन्हे ऊँचा लाने का उसे प्रयत्न भी करना पडता है। इस दृष्टि से निर्ग्रन्थता का यह अर्थ सही उतरता है कि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट करके विकसित करने की उत्कृष्ट साधना। इस प्रकार जैसे उपर्युक्त कथन मे भावसयम की दृष्टि हमे मालूम हो चुकी, वैसे इस अगले पद्य मे अव द्रव्यसयम की दृष्टि पर भार दिया गया दिखाई देता है। पूर्वपद्य मे सूक्ष्म जगत् मे वह साधक कैसा होना चाहिये, इस वात का दर्शन हुआ; अव यहाँ अपने आपके प्रति स्थूल जगत् मे वह साधक कैसा होना चाहिए ? यह वताया जाता है

नग्नभाव[1] मुण्डभाव सह अस्नानता,
अदन्तधावन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृङ्गार नहि,
द्रव्यभावसंयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो ॥ अपूर्व···॥६॥

अर्थ—शरीर से दिगम्बर, मस्तक मुण्डित, स्नानभाव से पर तथा दतौन का एक टुकड़ा भी नहीं रखने वाले, मतलब यह कि (वस्त्र, केश, स्नान और दतौन आदि) शरीर-प्रसाधन (सजावट) की प्रसिद्ध वस्तुओं का त्याग करने वाले, केश, रोम, नख या अंग पर लेशमात्र भी शृंगार

---

१. 'आश्रम भजनावली' में यह पद्य नहीं है। इसी तरह दूसरे पाँच पद्य भी नहीं हैं, यानी वहाँ सिर्फ १५ पद्य प्रकाशित हैं, जबकि बहुत-सी पुस्तकों में २१ पद्य प्रकाशित हैं।

न करने वाले; इस प्रकार द्रव्य से और भाव से भी (पूर्व पद्य में कहे अनुसार तथा आगे कहा जायगा तदनुसार) संयमी पूर्ण सिद्ध निर्ग्रन्थ होता है।

हे नाथ ऐसा अपूर्व अवसर मेरे लिए कब आएगा ?

भावार्थ—इस पूरे श्लोक का आशय यह है कि शरीर सुकुमारता—देह विभूषा—के लिए ऐसा निर्ग्रन्थ श्रमण किसी प्रकार की प्रवृत्ति न करे।

दत-पक्ति की शोभा, वस्त्र-आभूषणो से अग पर टीपटाप, बालो की सजावट, और स्नान-विलेपन आदि को रसशास्त्र मे शृगाररस के उद्दीपक साधन बताए गए हैं और है भी ऐसा ही। इसलिए शान्तरस के सरोवर में निरन्तर डुबकी लगाने वाले साधक के जीवन मे ये सहज नही होते, किन्तु यहाँ जिस भूमिका का वर्णन है, वह इतनी सहज नही है, इसीलिए कहते हैं—

'नग्नत्व, मुडन, अस्नान, अदन्तधावन आदि भाव यहाँ अपने आपके प्रति (वफादारी रखकर) साधने चाहिए। .'

पर यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वस्त्र नही रखने चाहिए ? मस्तक मुंडाना चाहिए ? नहाना नही या दाँत साफ न करने चाहिए ? इसी मे ही सारी साधुता आ गई ? ऐसा हो तो बहुत-से लोग केवल एक लगोटी रखते हैं, मस्तक मुडा कर भी असख्य वेपधारी घूमते है, स्नान या दतौन नही करने वाले भी कई आलस्यमूर्ति होते हैं, बालक और पशु नग्न भी रहते है, क्या उन्हे इसी कारण निर्ग्रन्थ मान लेना

---

१. दशवैकालिक सूत्र में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'विभूषावत्तिय भिक्खू कम्मं बंधई चिक्कणं।
संसार सायरे घोरे, जेण पडइ दुरुत्तरे ॥' (अ० ६-६६)

अर्थात्—'मै सुन्दर कैसे दीखूं ?' ऐसी शरीर-सौन्दर्यवृत्ति रखकर विभूषा में पड़ा हुआ भिक्षु चिकने कर्म बांधता है, वह उन कर्मों के फलस्वरूप दुस्तर और भयकर संसारसागर में गिरता है।'

चाहिए ? इसका उत्तर तीसरे चरण मे देते हुए कहते है—

'केश, रोम, नख के अंगे शृगार नहि'

अर्थात् ये शृ गार के निमित्त समझे जाते हैं, इसलिए इस दृष्टि से इनका त्याग यहाँ प्रासगिक है। कोई व्यक्ति शरीर पर वस्त्र न रखते हुए भी, मस्तक मुडाया हुआ रखते हुए भी, दतौन से दात साफ न करते हुए भी और शरीर स्नान न करते हुए भी दूसरी तरह से शरीर की टीपटाप करता हो, (सजाता हो, विभूषित करता हो) और खुद को और दूसरो को अपने शरीर के प्रति मोह वढे, इस प्रकार का व्यवहार करता हो तो वह शृ गारजन्य विकारो या दोषो से दूर नही रह सकता या नही कहला सकता। इसके विपरीत, मर्यादा (सभ्य समाज के वीच रहने के कारण) सुरक्षित रखने की दृष्टि से सीधेसादे सफेद वस्त्र, रक्षण के लिए पर्याप्त केश, आरोग्य की दृष्टि से दात साफ रखने या अग स्वच्छ रखते हुए भी शृ गारजन्य दोषो से और विकारो से दूर रहना अशक्य नही होता, ऐसा वहुतो के सम्वन्ध मे कहा जा सकता है। इसलिए इस पद्य मे वर्णित कथन का मुख्य तात्पर्य इतना ही है कि 'कायिक अमूर्च्छा' के प्रति वफादारी रखने के लिए मूर्च्छावर्द्धक अगो (साधनो) से सावधान रहना चाहिए। इसलिए उपर्युक्त कथन को केवल ऐकान्तिक रूप से समझ लेने से विपरीत परिणाम आएगा।

उदाहरण के तौर पर, कोई साधक स्वादेन्द्रिय पर तो कावू नही रखता है, (अटसट तली हुई, गरिष्ठ, दुष्पाच्य या अति मीर्च आदि वस्तु का सेवन करता जाता है) किन्तु दातो को साफ न रखे तो दात के (पायोरिया आदि) रोग होगे ही। इसी प्रकार शरीर पर सतत वस्त्र लपेटे रखे और जमी हुई मैल की परत को शरीर पर से दूर न करे तो वदवू से सारा वातावरण गन्दा कर देगा और लीख या जूँ आदि तीन इन्द्रियवाले जीवो को पैदा करके उनकी हानि (विराधना) मे निमित्त रूप वनेगा। सभ्य जन साधारण (समाज) के वीच रहते हुए भी नगा फिरे तो वह नग्नत्व अपने और देखने वाले, दोनो के लिए साधक के वदले

(प्राय) वाधक वन जाता है। इसीलिए अन्तिम चरण मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है—

'द्रव्यभावसंयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो'

द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से सयममय रहने पर ही निर्ग्रन्थता सिद्ध होती है। द्रव्य और भाव, व्यवहार और निश्चय, ये एक ही सिक्के की दो वाजू है, एक ही फव्वारे की दो धाराएँ हैं। द्रव्य न हो, वहाँ भाव होता ही नही, और भाव हो वहाँ द्रव्य (दीखे या न दीखे, फिर भी) है ही, यह निश्चित समझना चाहिए। द्रव्य हो फिर भी भाव न हो तो वह अधूरा है परन्तु भाव हो, वहाँ द्रव्य न दिखाई दे तो भी वह अधूरा नही है, क्योकि वहाँ दृश्यमान द्रव्य न हो तो अदृश्य द्रव्य तो अवश्य होता है।

साराश यह है कि भाव मूल आत्मा है, जो सदा अमर है। परन्तु भावना की वाजू को पकडकर यदि द्रव्य को केवल छोड देने की प्रवृत्ति हो तो द्रव्यक्रिया भी छूट जाती है और भाव तो पहले से ही छूट चुका होता है। इसलिए अनेक महापुरुषो ने वारम्वार क्रिया और ज्ञान दोनो[1] पर समान जोर दिया है, और उसमे भी 'पढम नाण तओ किरिया (दया)', यानी पहले ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान कहे या जिम्मेवारी[2] का सक्रिय भान कहे, वात एक ही है।

यहाँ 'जिम्मेवारी का सक्रिय भान' इस शब्द को मानें तो क्रमश· आराधित यह भूमिका ही ऐसी है कि यहाँ स्नान, दन्तधावन, केश-प्रसाधन या वस्त्र-परिधान की जरूरत न रहने पर भी अगशुद्धि, मुखशुद्धि,

---

१ चेतन अव मोहे दर्शन दीजे।
कोई क्रिया को कहत मूढमति, और ज्ञान कोई प्यारो रे।
मिलत भावरस दोऊ में प्रगटत, तूं दोनो से न्यारो रे॥ ·चेतन०
(यशोविजयजी कृत पद्य)।

२. 'जिम्मेवारी के सक्रिय भान' की व्याख्या के लिए देखो — 'स्फुरणावली'—माला २-२४।

आरोग्य और स्वाभाविकता सुरक्षित रहती है। मगर इस भूमिका तक पहुँचने की साधना मे शरीरश्रृङ्गार अथवा देहासक्ति (शरीर-मूर्च्छा) को उत्तेजित करने वाले साधनो से हो सके उतना छूटने का पुरुषार्थ होना चाहिए। जैसे (अग) चेष्टादि द्वारा शृगार के पोषित होने का डर है, वैसे शृगारोत्तेजक बाह्य साधनो के अतिसहवास से एक समय की विरक्तवृत्ति के भी विकृत मार्ग की ओर मुड जाने की अधिक भीति खडी है।

इसलिए हे भगवन् ! ऐसी सहज दशा का अपूर्व अवसर कब आएगा ?....

निष्कर्ष

रसशास्त्र कहते है—'रस की पराकाष्ठा शान्तरस मे है,' कला की आत्मा कहती है—'कला की पराकाष्ठा अनासक्त-भाव मे है', और सौन्दर्यशास्त्री कहते हैं—प्रेम की पराकाष्ठा वात्सल्यरस मे है, यह बातें सोलहो आने सच है। जहाँ जितनी निसर्गता होगी, वहाँ वे चीज़े उतनी ही सहज होगी।

मानवबुद्धि ने मनुष्य को नैसर्गिकता से जितना दूर रखा, उतने ही अधिक टीपटाप, ऊपरी साजसज्जा, आडम्बर और रागरग दुनिया के गले चिपके हैं। विकारी विकल्पो और देहमूर्च्छा (आसक्ति) के कारण से होने वाले खानपान और रहनसहन शरीर मे पसीने और मैल की दुर्गन्ध को बढा देते हैं। वन मे स्वतन्त्र विचरण करने वाले और आकाश मे मुक्तरूप से उडने वाले पशु-पक्षियो मे अद्भुत सौन्दर्य, रसिकता और कला का खजाना भरा होता है, इन सबको लाने या कृत्रिमरूप से टिकाए रखने के लिए उन्हे किसी प्रकार की अटपटी खटपट नही करनी पडती।

यो निसर्ग (प्रकृति) के शिव, सुन्दर और सत्य की त्रिवेणीवाले मार्ग मे श्रमण को शरीर-सत्कार (शृगार) की कोई खटपट नही करनी पडती, तथापि उसका प्रकाशमान शिव, सुन्दर और सत्य रूप विश्वप्रेरक

और सर्वाकर्षक बना रह सकता है।

[१०]

क्रोध, मान, माया और लोभ पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया है या नही ? इसकी पूरी प्रतीति हो जाने के बाद उस विजय का जीता-जागता परिणाम क्या होना चाहिए ? इस बारे मे अब इस पद्य मे कहते हैं—

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान-अमाने वर्ते ते ज स्वभाव[1] जो;
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता,
भव-मोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव[2] जो ।। अपूर्व०···।।१०।।

भावार्थ—शत्रु और मित्र ये दोनो विरोधात्मक शब्द स्मृतिकोष मे से निकल जायें, इसके लिए शत्रु और मित्र दोनों के प्रति एक-सी

---

१. बहुत-सी पुस्तको मे 'स्वभाव' की जगह 'समभाव' शब्द है।

२ इस सारे पद्य में समभाव की पराकाष्ठा ही बतानी है, तथापि इस काव्य के सहज रचयिता पुरुष ने शत्रु और मित्र के प्रति 'समदर्शिता' शब्द का प्रयोग किया है। तथा 'माने-अमाने ते ज स्वभाव' यहाँ भी समभाव ही सूचित किया है। जीवित या मृत्यु के बीच 'अन्यूनाधिकता' और भव तथा मोक्ष के बारे में 'शुद्ध स्वभाव' पद प्रयुक्त किये हैं। अतः यह काव्य-रचना बहुत ही रहस्यमय बनी है। उस समय रचयिता ने यह पद इस प्रकार विचारपूर्वक रखे होंगे, यह तो निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन पदो की स्फुरणा ऐसी सहज है कि यथार्थता को वे अपने-आप अपनी ओर खींच लाते हैं। शत्रु और मित्र तो व्यक्ति हैं, इसलिए उन पर तो समदर्शिता ही युक्त है। मान और अपमान अपने-आपमें एक परिस्थिति है, और उसका सीधा प्रभाव भावों पर पड़ता है, इसलिए 'ते ज स्वभाव जो' यह पद भी योग्य है। जीवित और

अमृत दृष्टि पड़े; मान और अपमान में भी सहजरूप से ऐसी समता सदा टिकी रहे अर्थात् मन की तराजू पर इन दोनो का कुछ भी असर न हो। इसी प्रकार जीवन और मरण इन दोनों में से किसी भी दशा पर न्यूनाधिक भाव न आएँ, यानी इन दोनों दशाओ मे भी यथार्थ समानता पैदा हो और ससार तथा मोक्ष इन दोनों दशाओं के प्रति भी शुद्ध स्वभाव रहे, यानी संसार दशा में रहते हुए भी निर्लेपता से मोक्षानन्द लूटने की तैयारी हो। अर्थात् उसे न तो संसार दशा के प्रति व्यग्रता (घ्याकुलता) पैदा हो और न मोक्ष का ही मोह पैदा हो।

अहो जिनेश्वर ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?···

विवेचन—मोहसागर का किनारा देखकर अब साधक का मनमयूर

मरण काल हैं, इसलिए इनमें न्यूनाधिकता चाहने के संस्कार अनादिकाल से रूढ़ हैं इसलिए इनके बारे में 'नहि न्यूनाधिकता' पद समभाव को सूचित करने के लिए ही प्रयुक्त किया गया है, वह भी यथार्थ है। इस तरह ऊपर की तीनों घटनाएँ संसार दशा मे रहते हुए होनेवाली है, इसलिए इनमें 'समभाव' घटित हो जाता हे, लेकिन 'भव और मोक्ष' इन दोनो पर समभाव कैसे घटित हो सकता है ? क्योकि ऊपर बताई गई घटनाएँ तो सिर्फ भ्रान्ति (अध्यास) के कारण भिन्न दिखाई देती थीं, पर भव (संसार) और मोक्ष ये दोनो दशाएँ तो सदा से परस्पर स्वयं विरोधी रही हैं, रही और रहेगी, इसलिए वहाँ 'समभाव' को सूचित करने के लिए 'शुद्ध भाव' पद अत्यन्त अनुरूप हो सकता है और वही पद चतुर्थचरण मे सहज रूप से प्रयुक्त हुआ है। ऐसा साधक संसार दशा मे है (यानी सिद्ध-अवस्था में नहीं पहुँचा) वहाँ तक उसे मोक्ष का अनुभव नहीं है, पर स्वयं शुद्ध स्वभाव का है (यानी सतत शुद्धस्वभावलक्षी है) इसलिए वह इसे अनुभव द्वारा ही ग्रहण कर सकता है और करे भी। इसमें समभाव का रहस्य सहज ही आ जाता है।

नाच उठता है, आँखें हर्ष से तरबतर हो उठती है। शुद्धि, सिद्धि और मुक्ति इन तीन भूमिकाओ मे से सिद्धि के तट पर उसकी साधना-नौका पहुँच आई है। जिस साधक को जिस भूमिका पर पहुँचना होता है, उससे पहले ही उसकी उस भूमिका के योग्य दशा हो जाती है। ऐसे साधक की दशा कैसी होती है ? इसे बताने के लिए स्पष्ट करते है :—

'शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता'

शत्रु और मित्र दोनो के प्रति उसके जीवन मे सहजस्वाभाविक समदर्शिता आ जाती है। ऐसी समदर्शिता तभी टिकी रह सकती है, जब शत्रु और मित्र दोनो मे उसे एक ही तत्त्व नजर आता हो। चिरायते के (नीम, गिलोय आदि के सत्त्व रस) पानी को शक्कर का पानी मानकर पीना, एक बात है और चिरायते के कटु रस मे रहे हुए रसतत्त्व की जो वास्तविक लज्जत है, उसे उसी प्रकार की वास्तविक रसवृत्ति से जानकर, सच्चा रसोपभोग करना, दूसरी बात है। कटुरस मे भी रस का मिठास तो है ही, भले ही जीभ अपनी सदा की पडी हुई आदत के कारण उस मिठास को महसूस न कर सके ! कडवी वस्तु मे भी रस की मिठास न होती तो ऊँट को नीम प्रिय न लगता ! जैसे इन्द्रियो की ऊपर की खासियत के कारण पदार्थ के स्वाभाविक रस की यथार्थता का अनुभव नही होता, वैसे ही वृत्ति मे रही हुई कषायो की कालिमा के कारण जगत् मे रही हुई शुक्लता नही नजर आती और इससे आत्मा विभावजन्य प्रवृत्ति मे उलझ जाती है।

क्रोध सर्वथा निर्मूल होने पर शीघ्र ही वात्सल्यरस के झरने अस्खलित रूप से बहने लगते हैं और सर्वत्र चैतन्य का देदीप्यमान तेज दृष्टिगोचर होने लगता है। जैसे एक्स-रे (X-Ray) लेने के यन्त्र की रचना ही ऐसी है, जिसमे चमडी के पटल के उस पार की चीज भी प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसी प्रकार ऐसी दशा मे रहे हुए साधक के पारदर्शी अन्तश्चक्षु ऊपर की उपाधिजन्य क्रिया को चीरकर उसके पीछे की मूल आत्मा को देखते हैं। इस कारण उसमे जगत् के किसी भी प्राणी की

अच्छी या बुरी कोई भी प्रवृत्ति लेशमात्र भी असमता पैदा करने में समर्थ नही होती ।

यहाँ प्रश्न होता है कि फिर तो ऐसे वात्सल्यस्रोत पुरुष का कोई शत्रु होगा ही क्यो ? यह तो निश्चित है कि उसकी दृष्टि मे जब शत्रुता रहती ही नही, इसलिए उसका कोई शत्रु नही होगा, परन्तु ऐसी दशा प्राप्त होने के पहले जो उसका शत्रु हो चुका है, उससे सम्बन्धित यह बात है । यद्यपि उसके स्वय के अन्तर्हृदय मे रही हुई नि शत्रुभावना की प्रभाव-किरणे पहले किन्ही कारणो से बने हुए शत्रु के हृदय को देर-सवेर से अवश्य स्पर्श करती है । परन्तु जहाँ तक प्रतिपक्षी व्यक्ति पर पूरा असर नही पडा हो, वहाँ तक ऐसे उच्चकोटि के बन्धुतापूर्ण साधक के प्रति उसका व्यवहार शत्रुतापूर्ण रहे, यह सम्भव है। मगर ऐसी सकटापन्न स्थिति मे भी उसकी सहज समता का आसन डोले नही, इतना ही नही, वल्कि उस सहजसमता के समग्र वल को लेकर उसके प्रति भी मित्रवत् अकृत्रिम व्यवहार रख सके, तभी समझना चाहिए कि यह दशा समभाव की पराकाष्ठा की है ।

हम पिछले आठवें पद्य के अन्त मे भ० महावीर की जीवन-दशा के उज्ज्वल चित्र का आलेखन कर चुके है, उसके साथ यह भूमिका पूरी नही उतरती है । शत्रुभाव रखने वाले गोशालक के प्रति और चरण चूमने वाले प्रिय ज्ञानी शिष्य गौतम के प्रति महावीरप्रभु की समदर्शिता टिकी रही । प्रभु ने समता की पराकाष्ठा पर यह मुहर लगा दी है ।

शिष्यलिप्सा न होते हुए भी शिष्यभाव से गोशालक रहे, इसमे भ० महावीर प्रभु ने उसका श्रेय देखा, परन्तु शिष्य वाद मे शिष्यत्वभाव छोडकर शत्रु बन जाय और गुरुकृपा से प्राप्त की हुई शक्ति का दुरुपयोग करे, वह भी उसी उपकारी गुरु के विरुद्ध ! अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए परम कृपालु गुरुदेव की प्रतिभा पर धूल उछालने का प्रयत्न करे, निन्दा करे और गुरुदेव की आत्मा को दम्भी सिद्ध करने तक की राक्षसी-वृत्ति अपनाए, फिर भी उसके प्रति पूर्ववत् (पहले जैसा ही) भाव टिका रहे,

व्यवहार या वाणी से ही नही, पर मन से भी उसका अहित न सोचे, यह दशा वास्तव मे अवर्णनीय है। अकल्प्य है! फिर भी जिसके लिए यह सहज है' उसके लिए सहज ही है। जबरदस्ती ऐसी दशा नही लाई जा सकती और जबरदस्ती लाई भी गई हो तो वह टिक नही सकती। वह-उपसर्ग करने वाले के प्रति अक्रोध रख सकने वाला पुरुष भी अपने निजी शिष्य के ऐसे दुर्व्यवहार को सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त न की हो, वहाँ तक सहन नही कर सकता। श्रमण भ० महावीर की आत्मा सिद्धि की भूमिका पार कर चुकी थी, इसीलिए वे गोशालक की समस्त क्रियाओ (कार्रवाइयो) के पीछे उसकी आत्मा को ही देख सकते थे। गोशालक की वैररञ्जित वृत्ति ही उससे पूर्व वैर वसूल करने के लिए यह सब करा रही थी, परन्तु उसकी अन्तरात्मा तो यह सब करते हुए भी अप्रसन्न होती थी। फलस्वरूप मृत्यु की घडियो मे गोशालक का हृदयपरिवर्तन होकर ही रहा। और सस्कृति के इतिवृत्त के लिए यह स्वर्णसूत्र गूंज उठा :—

'नहीं अपराध एकाकी पात्र में जन्मता कभी।
जन्मे भी तो सखे! सचमुच, हो जाता नष्ट है तभी॥'

आर्षद्रष्टा कहते हैं—श्रमण भ० महावीर के नाम से परिचित चोले मे रहे हुए जीव ने पूर्वभव मे गोशालक के पूर्वजन्म की आत्मा के साथ इस प्रकार का वैर बाँध लिया था। वैर का बदला प्रेम से चुकाया इसलिए नये वैर बंधने के कारण न रहे। स्निग्ध वस्तु के साथ ही कोई वस्तु चिपक सकती है, रुक्ष वस्तु के साथ रुक्ष वस्तु चिपक ही कैसे सकती है? इसलिए पूर्वकृत वैर निर्मूल हो गया। इतना ही नही, बल्कि भ० महावीर की अनन्त उदारता और वत्सलता का चेप भी उसे लगा। भगवतीसूत्र-(शतक १५) कार कहते हैं कि अनेक जन्मो के बाद गोशालक की आत्मा भी निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त करेगी।

यह है समदर्शिता का पहला चिह्न। दूसरा चिह्न है —

'मान-अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो'

जैसे क्रोध को निर्मूल करने के बाद शत्रुता का विदारण करना सरल है, वैसे अभिमान नष्ट करने के बाद मान-अपमान का जीतना सुलभ है। परन्तु उपर्युक्त दशा की अपेक्षा यह दशा एक कदम आगे की है। सभी जीवो के प्रति मित्रभाव रखने वाले विश्वप्रेमी के लिए भी मानापमान की वैतरणी नदी पार करना तो कठिन हो जाता है। यहाँ जिस मानापमान की बात कही गई है, वह बहुत ही सूक्ष्म है। एक दिन सारी दुनिया एकस्वर से जिसे प्रभु मानकर हृदय से अभिनन्दन करती हो, महाप्रभु का साक्षात् अवतार मानती हो, इसी बीच दूसरे दिन कोई दूसरा शक्तिशाली व्यक्ति आकर सारी दुनिया का मानस बदल दे और उस तथाकथित प्रभु की प्रतिभा को फीकी कर दे, फलत उसी दुनिया के मुख से उस पर धिक्कार बरसने लगें, गालियो के पुष्पहार चढने लगे, इन दोनो दशाओ को (समभाव से) सह लेना शल्य के समान तीक्ष्ण कील (भाले की नोक) पर अच्छी तरह नीद ले लेने जैसी बात है। किन्तु कुछ माई के लाल आज भी मिल सकते हैं, जो इसे सह सकते हैं। मगर आगे का या पीछे का एक भी रोम कम्पित न हो, न तो इस (विरोध जगाने वाले) व्यक्ति के प्रति और न (उस) दुनिया के प्रति, ऐसी स्थिरता के अडोल स्तम्भ का मर्त्यलोक मे मिलना तो दुर्लभ, महादुर्लभ, दुर्लभातिदुर्लभ है।

जिसके कान मे केवल परमात्मा की मधुर बाँसुरी के स्वर के सिवाय कुछ भी नही सुनाई देता हो। सुनाई देता हो तो भी जिसकी स्मृति उसे पकड न सकती हो, पकड सकती हो तो भी एक क्षण से अधिक वह शब्द टिकता न हो, इसी प्रकार जिसकी सभी इन्द्रियाँ परमात्मा के रग मे रग गई हो, ऐसा व्यक्ति उपर्युक्त प्रसग पर सम रह सकता है, दूसरो की बिसात नही। मन, बुद्धि और चित्त आदि अन्त करण प्रभुमय बन जाएँ, मगर यह प्रभुमय विज्ञान इन्द्रियो मे न उतरे वहाँ तक साधना अधूरी है।

"प्रशंसा की खुशबू है आती, जहाँ से मनोहर औ मधुर।
वहीं गर्भित है निश्चित समझो, निन्दा की बदबू अन्दर॥"

इस नैसर्गिक विज्ञान की साधना पहले से ही जिस साधक के लिए सहज हो, वह प्रशसा और निन्दा के सभी अगो को जीत सकता है। अगर आप प्रशसा का एक शब्द सुनने के लिए खड़े रहेगे, तो आपको निन्दा के सौ शब्द सुनने के लिए खडे रखने के अवसर, आपकी अभ्यस्त वृत्ति पैदा करेगी। चक्रवर्ती के समपदस्थ व्यक्ति के वन्दन-नमस्कार न देखने के लिए कदाचित् लोकोक्ति के अनुसार आँखे मूंदी जा सकती है, परन्तु स्तुतिवचन के समय कानो पर कौन-सा ढक्कन लगाया जाए ? यद्यपि जो आँखे मूंदने की तरकीब जानता है, वह कान के दरवाजे भी बन्द करने की तरकीब जान सकता है। परन्तु इस कला का प्रशिक्षण (Training) इससे भी कठिन तो है ही। यह स्वाभिमान को भी घोलकर पी जाने जैसी अत्यन्त आत्मविलोपन (शून्यवत् बन जाने) की भूमिका है। परन्तु सिद्धि के तट पर पहुँचे हुए साधक की दशा तो इससे भी ऊँची होती है, यह बताने के लिए ही आगे के चरण मे कहते है :—

'जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता।'

जीवित और मृत्यु इन दोनो के पीछे अनन्त जीवन का जिसे साक्षात्कार हुआ है, उसे ही ये दोनो अवस्थाएँ समान मालूम होती हैं। उसे न किसी मे न्यूनता लगती है, और न अधिकता ! कुएँ की घटमाला (रेहट) चलती है, तब गति तो होती ही है। एक जगह एक घटिका भर जाती है तो दूसरी जगह वही खाली हो जाती है। पानी भी है और पात्र भी है, जहाँ तक चक्र चलता है वहाँ तक इसी प्रकार होता रहेगा। जगत् का ऐसा दर्शन जिसने कर लिया है, उसे जीवन और मरण केवल जिन्दगी के केन्द्रबिन्दु को लक्ष्य मे रखकर गति करनेवाले दो एक सरीखे चक्रों के सिवाय और क्या लगेंगे ? ऐसे साधक को वृद्धावस्था या क्षीण बनी हुई काया जीर्णवस्त्र जैसी नहीं प्रतीत होगी, (जिससे उसे 'वासासि जीर्णानि यथा विहाय' की तरह नया सर्जन करना पडे), अपितु जीवन को मधुर आश्वासन और सहारा देनेवाली सहचारिणी प्रतीत होगी। इससे उसे अपनी काया टिकी रहे तो भी उसका आनन्द कायम रहेगा,

और न टिकी रहे तो भी उसका आनन्द अखण्ड रहेगा। यद्यपि उसका वह शरीर जगत् के लिए अतीव उपकारक सिद्ध हुआ हो, जिससे जगत् यह चाहे कि यह शरीर चिरकाल तक रहे तो अच्छा और उसके लिए जगत् या उसके भक्त ऐसे उपाय भी करना चाहे, परन्तु उस साधक पुरुष को स्वप्न मे भी ऐसी कोई इच्छा नही होती। क्योंकि इतनी दूर पहुँच जाने पर अव मृत्यु भी तो उसके लिए भवचक्र का अन्तिम चक्कर है। फिर भी इस जीवित-मोह के छूट जाने पर इस जीवन के बाद मोक्ष निकटवर्ती हो जाता है। इस प्रकार के स्पष्ट निश्चय होने पर भी जैसे जीवित (जीने) की वाञ्छा वह नही करता वैसे शीघ्र मृत्यु के बाद मोक्ष की वाञ्छा भी न करे, इसीलिए अन्तिम चरण मे कहा है—

'भव[1]-मोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो।'

दरअसल देखा जाय तो मोक्ष जिसके सामने दौडता आ रहा हो, उसे मोक्ष की लिप्सा हो ही कैसे सकती है? यो तो **'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'** मे ठोस सत्य पडा हुआ है, क्योंकि कषाय से मुक्ति के बाद स्वेच्छा से कुछ करने जैसा रहता नही है। पर जहाँ अभी तक इस किनारे तक नौका पहुँची नही हो, वहाँ तो अन्तर्यामी के चरणो मे प्रार्थना की जाती है कि प्रभो! ससारदशा रहे या मोक्षदशा प्राप्त हो, दोनो के प्रति मेरा शुद्ध स्वभाव चालू रहे। शुद्ध स्वभाव चालू रहे, इसका मतलव ही यह है कि "मैं शुद्ध आत्मभाव मे रहूँ।" क्योंकि भवसागर का किनारा दिखाई दे रहा हो, उस समय अगर थोड़ी-सी भी गफलत हो जाए या चूक हो जाए तो किनारे के पास तक आई हुई नौका डूब जाती है। ऐसे समय मे तो उलटे ज्यादा सावधान रहने की जरूरत रहती है। बहुत-से उपवास करने फिर भी सरल है, किन्तु पारणे के समय जो पदार्थ थाली मे आए, उस समय धैर्य रखना और उतावली करके भोजन की मात्रा और पथ्यापथ्य का ध्यान न रखकर ठूंसते जाने का चेप स्वाभाविक-

१. 'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः' इस पक्ति से मोक्ष और भव दोनो से निःस्पृह साधक को उत्कृष्ट मुनि कहा गया है।

रूप से मन को न लगने देना, दुष्कर, अतिदुष्कर है।

इसीलिए कहा गया है कि भव और मोक्ष ये जीवन-तराजू के दोनो पलडे समान रहे, इस प्रकार का शुद्ध स्वभाव रहना चाहिए। **"भव-सागर सब सूख गया है, फिकर नहीं मुझे तरनन की"** इससे भी आगे बढकर तरते हुए भी, किनारा दिखते हुए भी न तो किनारे जल्दी पहुँच जाने का मोह पैदा हो और न तरने मे ही शिथिलता आए, अर्थात् ऐसे समय मे सिर्फ अनासक्तिमय आत्मभाव मे तल्लीन ही रहा जाए! अहो त्रिलोकीनाथ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?

निष्कर्ष

निर्भयता की पराकाष्ठा तक पहुँचने के एक क्षण पूर्व तक भय का अकुर रहा ही हुआ है। और भय है, वहाँ तक भय के निमित्तभूत हथियारो के सामने निर्भयता की ढाल हाथ मे थामे रखनी ही होगी।

—×—

[११]

प्रास्ताविक

मूल मे आत्मा एक[1] था, श्रुति, शास्त्र और आगम इसके साक्षी हैं। जिस कामना की विविधता से वह बहुरूपी बन सकता है या बना, उसी कामना के विजय से वह अपनी एकरूपता को प्राप्त कर सकता है, यह स्पष्ट समझ मे आने जैसी बात है। परन्तु ससार तो सदा से बहुरूपी रहा है और रहेगा भी, क्योकि उसका यह स्वभाव है। इसलिए ससार

१. 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'एकोऽहं बहु स्याम्'—श्रुति। 'एगे आया' —स्थानाग सूत्र। यद्यपि जैनदृष्टि से 'आत्मा एक है' का भावार्थ 'जगत् में एक ही आत्मा है और जीव उसी के विविध अंशरूप हैं'; यह नहीं है; किन्तु यह है कि जीव पृथक्-पृथक् अनन्त हैं, तथापि उन सबका स्वभाव-स्वरूप एक (समान) ही है।

वहुरूपता मे एकरूपता को कायम टिकाए रखने के लिए आत्मा[1] के एकत्व की झाँकी ऐसी दृढ हो जानी चाहिए, जिससे सभी सयोगो (परिस्थितियो) के खिलाफ मोर्चा लेकर वह दृढता से टिक सके।···

ऐसी परमसिद्धि की साधना के लिए पूर्वपद्य मे सूक्ष्मप्रवृत्ति की वात वताई गई। यहाँ फिर स्थूलप्रवृत्ति मे सावधानी का स्मरण दिलाया जा रहा है। इस दृष्टि से नीचे के पद्य मे मुख्यत. निर्ग्रन्थ की दिनचर्या का उल्लेख किया गया है, जिसके द्वारा निर्भयता, नैतिक हिम्मत और प्रेम मे गर्भित रहस्य प्रगट किया गया है —

एकाकी विचरतो वली स्मशानमां
वली पर्वतमां वाघसिंह-संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता,
परममित्रनो जाणे पाम्या योग जो॥ अपूर्व···॥११॥

अर्थ :—अकेले और वह भी स्मशान जैसे भीषण स्थान में विचरण करना, जहाँ बाघ, सिंह, चीते आदि क्रूर जानवरों के संयोग की बारम्बार सम्भावना हो, वैसे पर्वत, गुफा आदि स्थानों में रह कर साधना करना, ऐसे भयंकर जानवर पास में आएँ तो भी अडोल आसन से बैठे रहना; इतना ही नहीं, बल्कि मन में जरा-सा भी क्षोभ न आने देना और मानो परमस्नेही मित्र का मिलाप हुआ हो, ऐसी प्रेमभरी स्थिति का अनुभव करना! हे जगद्वल्लभ! ऐसा अपूर्व अवसर मैं कब प्राप्त करूँगा?···

विवेचन:—इस पद्य के प्रारम्भ मे 'एकाकी विचरतो' ये शब्द पढते ही सहसा प्रश्न होता है—"अकेले क्यो विचरण करना?" इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'एकाकी' शब्द न तो अलग-थलग हो जाने के अर्थ मे है, और न स्वच्छन्दता से या मन की तरगो के आवेश मे आकर अकेले

---

१. 'न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाऽहं।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य वाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र! मुक्त्यै॥
(सामायिक पाठ)

भटकते फिरने के अर्थ मे ही है, किन्तु यहाँ 'एकाकी' शब्द एकान्तरूप से साधना करने के हेतु के प्रयुक्त किया गया है।

अगर साधक अलग-थलग रहने के भाव से अकेले विचरण करना चाहे तो '**मित्ती[1] मे सव्वभूएसु**' अर्थात् मेरी सभी जीवो के साथ मैत्री है, इस उद्देश्य से सर्वप्राणियों के साथ वह मैत्री की कड़ी जोड नही सकता, और न समस्त जीवो के साथ अद्वैतता—आत्मीयता—अभिन्नता की साधना ही कर सकता है! अगर वह स्वच्छन्दता (स्वेच्छाचारिता) से अकेले फिरना पसन्द करता है तो अपनी कामना के जाल मे ऐसा फस जायगा कि भूल होने पर न तो वह किसी विश्वस्त और एकान्तहितैषी की बात मानेगा और न भूल सुधारेगा। फिर तो "**एगो[2] वि पावाइं विवज्जयन्तो, सुहंसुहेणं विहरेज्ज लोए**" यानी पापो[3] से निर्लेप रहते हुए लोक मे अकेला विहरण (विचरण) करते हुए सुख प्राप्त करे" इस (हेतु) को वह प्राप्त नही कर सकेगा।

अब दूसरा सवाल यह खडा होता है कि एकान्त मे साधना करने का कहने के पीछे क्या प्रयोजन है? इसका जवाब तो साफ है कि उदात्त ध्येय की वफादारी के लिए एकान्त ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। एक बार लोकरूढ वातावरण से और स्थूल सग-मात्र से अलग हुए बिना मौलिक विचार की भूमिका ही दुर्गम्य है। और मौलिक विचार न जागे वहाँ तक विश्व का मौलिक विज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। फिर वीतरागभाव की स्थिति प्राप्त करना तो बहुत दूर है!

इतना स्वीकार करने पर भी एक तर्क यह उपस्थित हो सकता है कि फिर भी संगत्यागी पुरुष एकाकी विचरण न करके समान भूमिका वाले या समान ध्येय पर विचरण करने वाले सहचारियो (साथियो) के साथ विचरण करे तो क्या बुरा है?

---

१. आवश्यक सूत्र की गाथा।

२ दशवैकालिकसूत्र ४-९।

३. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३२-५।

इस तर्क के पीछे कुछ तथ्य अवश्य है, और परिपक्व भूमिका का निर्माण ठीक तरह से न हुआ हो, वहाँ तक यह सहचार[1] (सहविचरण) सघ[1] के विधान मे अनिवार्य बताया गया है, परन्तु जैसे यह सहचार (सहविचरण) साधक है, वैसे ही उत्कृष्टकक्षा[2] (भूमिका) के लिए वाधक भी है ही, यह वात नही भूलनी चाहिए, क्योकि सहचारियो के सग का सूक्ष्म ममत्व और मिलने वाला अवलम्बन उस उच्च साधक को सर्वांगी असगता और स्वावलम्वी साधना के आकाश मे उडने मे रुकावट डालता है। इसलिए पखें मजबूत हो जाने के वाद जैसे विहगम (पक्षी) व्योम-विहार मे प्रवृत्त होता है, वैसे ही ऐसा साधक इस मार्ग पर प्रवृत्त होकर यानी 'एगंतसुही साहूवीयरागो' (वीतरागी साधु ही एकान्त सुखी होता है) की तरह विरक्तभाव मे निमग्न रहकर एकान्त के सुख का सवेदन करता है।

अव यह कहने की शायद ही जरूरत रह जाती है कि ऐसा यथार्थ एकान्त साधक को विश्वव्यापक विशुद्ध प्रेम (वात्सल्य) से अलग नही फेंक देता, अपितु ऐसे अखण्ड वात्सल्य मे जो-जो बाधक कारण है, उन्हे दूर करके उलटे वात्सल्यसिन्धु मे मिलने का मार्ग (असल मे) खोलता है। वात्सल्य[3] (शुद्ध प्रेम) का प्रवल वाधक कारण भय है। इसीलिए कहा है—'वली स्मशानमां।'

---

१. देखो श्री आचारांग सूत्र ५-४-१।

२ भगवान् महावीर के संघ के विधान में एगचरिया (एकाकीचर्या) का निषेध भी है वैसे इस दृष्टि से विधेयता भी है, देखो—उत्तराध्ययन सूत्र अ-३२ गा-३१।

३. Fear is only congested love, else how could love conquer fear? Heart of Rama 4-18 अर्थात् भीति अतिराग में से पैदा होती है, अन्यथा प्रेम भीति को कैसे जीत सकता ?

श्मशान यानी मुर्दा जलाने या दफनाने का स्थान, मरघट । श्मशान के साथ ही भूत, प्रेत, व्यंतर, जिन्द, आदि के भय की मान्यता वर्षो प्राचीनकाल से जुडी हुई है । क्या प्राचीन जनता क्या अर्वाचीन, क्या आर्य धर्म, क्या आर्येतर धर्म, क्या देश, क्या विदेश, सर्वत्र बाल्यकाल से लेकर यह मान्यता दिमाग मे अलग-अलग प्रकार से चिपकी पडी है । इन प्रेतात्माओ के प्रति पूर्वभय के सस्कार जब तक सर्वथा निर्मूल न हो तथा सूक्ष्म और स्थूल दोनो प्रकार के शरीरो मे रहे हुए चैतन्यो के साथ मेरी आत्मीयता है, ऐसा ठोस भान न हो, वहाँ तक चारो ओर से शुद्धप्रेम (वात्सल्य) का विकास नही हो सकेगा और उक्त प्रकार के मानसिक विकल्प बारम्बार आकर साधना मे अन्तराय डालते रहेगे । इसलिए ऐसे स्थलो[1] का उल्लेख किया गया है । ऐसे स्थलो मे चिर-निवास और चिरसहवास सारा इन विभीषिकाओ के भय से चित्त को विमुक्त करना चाहिए ।

अब इससे आगे बढते हुए कहते हैं :—

'वली पर्वतमां वाघसिंह-संयोग जो'

जीती जागती दृश्यमान स्थूल सृष्टि मे अधिक-से-अधिक निर्जन प्रदेश पर्वत होता है । इसलिए यहाँ 'पर्वतविहार' प्रतीत होता है । परन्तु पर्वत जैसे निर्जन प्रदेश है, वैसे अधिक भयकर भी है । मनुष्य जिससे डरता है और जो मनुष्य से डरता है, ऐसा परस्परभयवाला (वन्य) पशुजगत् यहाँ विशाल सख्या मे होता है । बाघ, चीता, सिंह, भालू, अजगर, साँप इन सब क्रूर प्राणियो ने मनुष्य के दिमाग मे केवल भय-करता का स्थान ही नही जमाया है, अपितु मनुष्य इन्हे अपना कट्टर शत्रु भी मानता है । उच्च मच पर चढकर या सुरक्षित स्थल मे रहकर जहाँ देखो वहाँ अनेक साधनो और सहजनो को साथ लेकर इनका वध करना ही मानव ने मानो अपनी वीरता का महाक्षेत्र माना हो, ऐसी स्थिति

१. 'सुसाणे सुन्नागारे वा रुक्खमूले व एगओ' आचारांग ६-२-३ तथा दशवैकालिक सूत्र ५-१-८२-८३ ।

पैदा कर दी है। फलस्वरूप मानवजाति मे निर्दयता और भीति (डर-पोकपन) ये दोनो दुर्गुण एक साथ विकसित हुए हैं। यह तो अनुभव-सिद्ध बात है कि ऐसे निर्दय मनुष्यो का मनोबल विलकुल कमजोर और शिथिल होता है। महानिर्दय शिकारी भी एकान्त मे जरा-सी आहट या पत्तो की खडखडाहट से डर जाता है। उसकी ऐसी डरपोक दशा होती है। इसीलिए तो कहा गया है कि महासाधक ऐसे स्थल मे निवास करना खासतौरसे पसन्द करे, क्योकि दया[1] और अभय की प्रतिक्षण जरूरत है। महाकवि शेक्सपियर के शब्दो मे कहे तो—

"We do pray for mercy and that same prayer doth teach us all to render the deeds of mercy"

अर्थात् हम प्रार्थना मे दया की याचना करते हैं और वही प्रार्थना हमे दयाकृत्य बताने की शिक्षा-प्रेरणा देती है।

पर ऐसी दया और निर्भयता सिर्फ बोलने से ही या पर्वतपर्यटन करने मात्र से ही नही आ जाती। पर्वतनिवासी भी डरपोक हो सकता है और सिह का सयोग बारम्बार मिले तो भी वह ऐसे साधन रख सकता है, जिससे सामने वाले को, खुद को या किसी को भी इजा न पहुँचे और अगर इस प्रकार कोई पर्वत मे या घोर जगल मे रहता भी हो तो जिस भूमिका का यहाँ विधान है, वह उसमे नही आ सकती और जिस खुमारी के लाने की साधक मे तमन्ना है, वह ऐसी स्थिति में प्रगट नही हो सकती।

इसीलिए इस पद्य का तीसरा चरण सूचित करता है —

'अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता'

'अडोल आसन' यहाँ दो तरह से विहित है। एक तो यह कि आसन मारकर वह साधक ध्यानस्थ दशा मे बैठा हो तो कोई बाघ या चीता आदि आवे, इतना ही नही, जैसे मनुष्य इन जगली जानवरो को पूर्वाभ्यास

---

१. विकराल बाघ या क्रूरप्राणी दिखाई दे तो घबराकर या डरकर दूसरा आश्रय न लेना, किन्तु निर्भयता से वहीं विहरण करना।
—आचारांग सूत्र १२-३-१३।

से अपने दुश्मन मानता है, वैसे ही ये भी उस बैठे हुए आदमी (साधक) को अपना शत्रु मानकर हैरान[२] करने का प्रयत्न करें, दूसरे, यो ही बैठा हुआ हो तो भी सामने आकर या पास मे आकर दहाडें गर्जना करें, पजा उठाएँ या काटने को तैयार हो तो भी ऐसा साधक लेशमात्र भी विचलित न हो। न तो वह उनका प्रतीकार करे और न उन्हे हटाने के लिए दूसरे की सहायता चाहे, क्योकि उसके मन मे यह पक्का विश्वास होता है कि मैं जिसे मारना नही चाहता, वह मुझे मार नही सकता। ऐसी स्थिति के ज्वलन्त उदाहरणस्वरूप 'दीर्घतपस्वी महावीर और चडकौशिक सर्प' के दृश्य पर एकबार फिर विचार कर लेना चाहिए। सिर्फ फुकार से ही छाती धडकने लगे, हृदय फटने लगे या जोर से चिल्लाने लगे वहाँ 'अडोल आसन' नही टिकता और उसका परिणाम विपरीत आता है, यह सुविदित है। इसीलिए इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा गया है —

'ने मनमां नहि क्षोभता'

अर्थात्—वह सिर्फ अडोल रहे या उसका विरोधात्मक (प्रतीकारात्मक) व्यवहार न हो, इतना ही बस नही है, बल्कि अपने मन मे इस निमित्त से जरा-सा क्षोभ तक नही आना चाहिए—अर्थात् विरोधात्मक विचार तक उसके दिमाग मे स्फुरित नही होना चाहिए। चित्त की विचारधारा का आत्मसामर्थ्य के उच्चमार्ग पर चढता हुआ प्रवाह भी

---

२ यहाँ 'हैरान करने' का प्रयोग इसलिए किया गया है कि मनुष्य को कोई भी प्राणी मुख्यतः कभी माँस के लिए नहीं मारता। तथैव जानबूझकर मनुष्य को मारना ही, ऐसे इरादे से भी नहीं मारता। प्राय उससे अपनी मौत का डर होने से, प्राण बचाने के लिए वह उस पर झपटने, प्रहार करने या काटने का प्रयत्न करता है। बहुत-सी बार तो वह इस तरह से हमला करता है कि मनुष्य की जान भी बच जाती है और स्वय भी उसके प्रत्याघात से (खतरे से) बचकर वहाँ से खिसक जाता है।...

ऐसी परिस्थिति मे कही न रुककर अस्खलित रूप से बहता रहना चाहिए।

ऐसी भूमिका के निकट पहुँचकर निरन्तर आत्ममस्ती मे झूमते हुए स्वामी रामतीर्थ हिमालय के पहाडो और घाटियो मे जो गर्जना करते है, उसका नमूना यह है —

'I am emperor Rama whose throne is your own hearts'

(—*Heart of Ram 8-26*)

अर्थात्—मैं शाहशाह राम हूँ। मेरा साम्राज्य तुम्हारे हृदयो पर प्रवर्तमान है। और फिर इस विपुल सामर्थ्य का प्रवाह बहाते हुए कहते हैं —

"O Himalayan snows! your master orders you to keep fast to your purity and faithfulness to truth (light). Never shall you send waters impregnated with dualism to the plains."

—'*Heart of Rama*'

"हे हिमालय के हिमशिखरो! तुम्हारा स्वामी तुम्हे आज्ञा देता है कि तुम अपनी पवित्रता सुरक्षित रखना तथा सत्य (प्रकाश) के प्रति अपनी वफादारी से चिपके रहना। तुम नीचे की घाटियो और मैदानो पर द्विभावी—गन्दा पानी न बहाना।" इस पर से इसकी सम्भाव्यता पूरी तौर से ध्यान मे आजाएगी। परन्तु अभी तक पद्यकर्ता की भावोर्मियाँ इस भूमिका से भी आगे बढती है :—

'परम मित्रनो जाणे पाम्या योगजो।'

अर्थात्—ऐसी परिस्थिति मे आसन चलायमान न हो, मन मे क्षोभ पैदा न हो और सामर्थ्य टिका रहे, यह तो परमक्षमा या प्रतिभा का स्वरूप हुआ। पर असल बात तो यह है कि आत्मनिष्ठा, नैतिक हिम्मत, निर्भयता और क्षमा द्वारा साधे हुए हृदय-विकास की उस मौके पर विधेयात्मक दिशा खुलकर मानो परम मित्र का ही मिलाप हो रहा हो, ऐसा प्रेम-भरा (वात्सल्यपरिपूर्ण) हृदय मित्र-भाव के अमृतरस से नाच उठना चाहिए। यहाँ 'परम मित्र' पद तो जान-बूझकर जोडा गया

है। वह यह भाव सूचित करता है कि ये भयकर और जहरीले समझे जाने वाले सृष्टि के मित्र उसकी साधना के उत्कर्ष मे जो निमित्त बनने का हिस्सा अदा करते है, वह नजदीक के कहलाने वाले मानव-मित्रो से अदा नही किया जा सकता। क्योकि वहाँ मित्रता के अमृत पीने जाते समय उस मित्रता की ओट मे दूसरे अनेक प्रच्छन्न तीव्रघातक जहरो के प्याले निकल पडते हैं। जबकि इन वर्षो से दूर हुए मित्रो मे तो ऊपर के विष का एक ही प्याला पच गया तो अन्दर से अमृत का अक्षय रस-निधि प्राप्त होता है। और फिर तो 'राम' की हृदयध्वनि मे कहे तो—

'In reality there is nothing to be feared of, all round in all future, in all distance there is one self supreme existent and that is my own self of whom I shall be afraid.

(*Heart of Rama*)

अर्थात्—अखिल ब्रह्माण्ड मे आज, भविष्य मे या सभी कालो मे, सभी अन्तरो मे जब मेरा अपना जीवात्मा सर्वोपरि है और वह एक समस्वरूप ही है, तो फिर मैं किससे डरूँगा ? असल मे, किसी से कुछ भी डरने की गुजाइश नही रहती !

इससे अभय की स्थिति पैदा होती है।

हे भगवन् ! इस देह मे ऐसी दशा का अनुभव करने की अपूर्व घड़ी कब आएगी ?...

---

१ चडकौशिक के विषमय डंक के प्रतिदान में श्रमण भ० महावीर का हृदय जैसे नाच उठा था।

२. जहरीले, रौद्र और भयानक मान कर मानव इन मित्रो के सहवास से बहुत दूर—अलग हो गया है, और जितनी अधिक मात्रा में अन्तर बढ़ा है, उतनी ही मात्रा में —'Man is charitable, he shall hot harm but help others.' मनुष्य उदारवृत्ति का है, वह किसी को हानि नहीं पहुँचायेगा, बल्कि सहायता करेगा, इस प्रकार का अपना असली धर्म चूक गया है।

निष्कर्ष

प्रेम की परिभाषाएं अपार हैं। प्रेम की व्याख्याएँ भी अनन्त है। प्रेम के सूत्र तो अणु-अणु मे अंकित हैं। पढते-पढते थक जाने पर अन्त मे तो 'नेति नेति' यही उद्‌गार जिह्वा से निकलेगा !

ईसाईधर्म की भाषा में कहा—'प्रेम प्रभु है,' जैन धर्म की भाषा मे कहा—प्रेम स्वभाव है। सर्वात्मसख्यभाव इसका माध्यम है और अभय इसका मुद्रालेख हैं।

विशुद्ध प्रेम के धनी बनने के लिए एकान्त सेवन का अभ्यास करो। पूर्वाध्यासो को जडमूल से बदल दो। श्मशान मृतको (मुर्दों) का ही विश्राम नही है, अपितु वह गोचर-अगोचर देहधारियो की अनुसधानभूमि हैं; इहजीवन और पुनर्जीवन का केन्द्रविन्दु है। श्मशान मे ग्राहको को अनेक चीजे मिलेंगी, शोधको को बहुत-सा मसाला मिलेगा। जो प्रेम का सौन्दर्य गोचर (प्रत्यक्ष) मे है, वही प्रेम का सौन्दर्य अगोचर—अप्रत्यक्ष (परोक्ष) मे है। जिसकी गोद मे मृत शरीर सोये हुए हैं, वही गोद सबके लिए है।

सिंह और वाघ भी प्रेम का तत्त्वज्ञान अच्छी तरह जानते है, समझ लेते है। न किसी को डराओ और न स्वय डरो, प्रेम के प्याले पीओ और पिलाओ, यही उच्च साधक के जीवन का मूलमत्र है।

—×—

[१२]

प्रास्ताविक

श्रुति (वेद) के इस वचन का हम उल्लेख कर चुके हैं कि "ससार का लेप लगने से पहले जीव को कामना का चेप लग गया था और उस कामना को पालने-पोसने के लिए उसने तप किया, इसलिए ससार वढा" जिस डोरी से जो वँधा है, उसी डोरी का वट वदलने से वह खुल

सकता है। इस नियम के अनुसार जिस साधन से जीव का ससार बढा, उसी साधन से उसे ससार घटाना है। इस दृष्टि से आन्तर-ग्रन्थी का भेदन करने के लिए तपस्या अनिवार्य हो जाती है। किन्तु इतना जरूर याद रखना चाहिए कि चरित्र-निर्माण में सयम के बाद का कदम तप है। सयमविहीन तप मे तेजस्विता नही आती। ऐसा तप कामनाविजय मे भी शायद ही साधक हो।"

इसलिए जैसे अस्खलित बहती हुई सरिता, खाडी के बाद सागर मे आती है, वैसे ही पद्यकर्त्ता की वाणी सयम की खाड़ी को पार करके अब तप के सागर मे प्रवेश करती है। प्रमाद, विषय, कषायादि पाप का प्रवेश-द्वार बन्द करके अब साधक पूर्ववासनाओ को विशुद्ध करने के लिहाज से तप की गुफा मे प्रवेश करता है। दो-दो कसौटियो मे से पार उतरा हुआ कुदन अब धधकती आग की गोद मे जा पडता है। देखिए यह पद्य —

घोरतपश्चर्यामां (पण) मन ने ताप नहि,
सरस अन्ने नहि मन ने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के ऋद्धि वैमानिकदेवनी,
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो॥अपूर्व०…(१२)

अर्थ—महाकठिन तपस्या हो रही हो, फिर भी मन में लेशमात्र भी घबराहट न हो, अत्यन्त मधुर और रुचिकर (स्वादिष्ट) खानपान मिलने पर भी जीभ की स्वाद-लालसा तीव्र न हो तथा मन पर खुशी का विषयसंस्कार भी न पड़े, क्योंकि यह भूमिका ही एक ऐसी है, जहाँ रजकण और इन्द्रो की अक्षय समृद्धि, दोनो के प्रति मूलस्वभाव से 'एक ही प्रकार के पुद्गल हैं' ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है।

हे दयालु देव ! ऐसी धन्य घड़ी कब आएगी, जिसे मै अपनी आँखों से साक्षात् निहार सकूँ !

विवेचन—यहाँ तपस्या के पूर्व 'घोर' विशेषण लगा हुआ है, उसका अर्थ भयावनी या कठिन होता है, परन्तु यह कठिन तपस्या यहाँ सिर्फ दीर्घकाल तक उपवास करने के अर्थ मे नही हैं। अगर इस अर्थ मे

तपस्या को लिया जाय तो कुम्भकर्ण को घोर तपस्वी कहा जाना चाहिए क्योकि वह ६ महीने तक आहार किये बिना निद्रा के नशे मे पडा रहता था। शास्त्र प्रमाणो की बात कदाचित् परोक्ष होने से अविश्वसनीय हो तो प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिए—'ता० १८-१०-१९३६ के साप्ताहिक पत्र 'मुबई समाचार' मे 'मेग्वीर प्रोटेशिया' नामक चिकागो की ३० वर्ष की युवती का प्रत्यक्ष वृत्तान्त प्रकाशित हुआ था, कि वह चार साल तक निद्रामग्न रही। इसीलिए पद्यकार स्पष्ट करते है —

'घोर तपश्चर्यामां (पण) मनने ताप नहि'

तपस्वी को जहाँ तक यो लगे कि मैं तप कर रहा हूँ या मैंने तपस्या की है, वहाँ तक मन तप्त हुए बिना नही रहता। थोडा-सा निमित्त मिला कि आवेश आ जाता है। किसीको कहे बिना या किसी भी प्रकार का प्रचार किए बिना भी मूक रहकर की गई व्रत या उपवासो की तपस्या भी मूढता, लघन या केवल भूखे मरने के दोषो मे परिणत हो सकती है। इसलिए सच्ची बात तो यह है कि वृत्ति पर जो कामनाजन्य सस्कार होते हैं, उनके (कामना जीतने के प्रयोग की अपेक्षा) क्षुब्ध होने पर सक्लेश भी होता है। परन्तु मन मे जरा भी ताप न आने देना, अथवा ताप आए तो जडमूल से शमन कर देना, गहराई मे गडे हुए काँटे को निकाल देना, यही सच्ची तपस्या है।

इस दृष्टि से गीता कहती है—प्रसन्न और सौम्य चित्त, शुद्धभाव, आत्मसंयम और मौन की मस्ती, यह सर्वोत्कृष्ट तप है।[1]

ऐसी तपोवृत्ति कोई एकदम लाने से नही लाई जा सकती, यह तो

---

१ 'मनः प्रसादः सौम्यत्वं, मौनमात्मविनिग्रह ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥'

—गीता अ० १७, श्लोक-१६

इसी दृष्टि से 'तवसा परिसुसए' तप से कर्म (वासनाजन्य) भस्म होते हैं; ऐसा जैन सूत्रों में कहा है। देखो उत्तरा० अ० ३०

साधक जीवन मे स्वाभाविकरूप से धीरे-धीरे आती है। परन्तु ऐसी स्वाभाविकता को लाने के लिए शारीरिक और वाचिक सयम का अभ्यास करना जरूरी है, यह बात तो पहले ही आ चुकी है।

परन्तु ऐसे सयम का परिणाम क्या आता है, इसकी स्पष्टता यहाँ करते है·

'सरस अन्ने नहि मनने प्रसन्नभाव जो'

मनोज्ञ (मनपसद) भोजन देखते ही जीभ मे पानी छूटने लगे और झट-पट उसे ग्रहण करने की आतुरता बढे, ऐसी सर्वसामान्य घटना सब पर लागू होना असम्भव है। बहुत-सी बार किसी एक भव्य आदर्श मे उडते हुए चित्त को, इन्द्रियो को होने वाले स्थूल स्पर्श या स्वादपटुता के भावावेश का स्पर्श नही होने की भी सम्भावना है, पर इन्द्रियाँ अपनी प्रचलित आदतो से मन पर गहरे सस्कार जमाए बिना रहती ही नही। इसलिए या तो मन इसमे साधक की आत्मा को बलात् खीच ले जाता है, या फिर 'आज तो मजा आ गया' इस प्रकार के अव्यक्त सस्कार उस पर छोड जाता है। इन जड जमाए हुए सस्कारो का परिणाम गीता मे बताए हुए **'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'** (विषयो से अलग रहने पर भी विषयासक्ति ज्यो-की-त्यो रह जाती है।) के अनुसार अमुक पदार्थो को छोडने पर भी उसकी आसक्ति रह जाती है। और स्वाद[1] पर पूर्णतया विजय न प्राप्त की जाय, वहाँ तक वासना-विजय की सिद्धि मृगतृष्णा जैसी ही रहती है। जैसे मानसिक विकार इन्द्रिय-विकारो को बढाता है, वैसे इन्द्रिय-विकार भी मनोविकार मे वृद्धि करते है। इसीलिए स्वादिष्ट अन्न (भोजन) मिलने पर भी चित्त की समता जरा भी नष्ट न होने देना, यह सर्वसामान्य भूमिका नही, अपितु असाधारण भूमिका है। कोई यह न समझे कि इस भूमिका मे प्रसन्नभाव होता ही नही। उलटे, इस भूमिका मे तो प्रसन्नभाव सहज स्वाभाविक होना

१. 'मनुष्य जहाँ तक जीभ के रसो को जीते नहीं, वहाँ तक ब्रह्मचर्य का पालन अतिकठिन है।'—(व्रतविचार पृ० ६१, गांधीजी)

चाहिये। मतलब यह कि ऐसा सहज प्रसन्नभाव स्वादिष्ट अन्न मिलने से पैदा हुआ, नही गिना जाता। स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने की लालसा न होते हुए भी, (सहजभाव से) साधक को मिले तो भी वह स्वादिष्ट भोजन मोहित न कर सके, यही यहाँ मुख्य कथिताशय है। क्योकि जिसे आज सरस भोजन मोहित कर सकता है, उसे कल नीरस भोजन नाराज भी कर सकता है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न जरूर उठता है कि "आहार जैसी मामूली वस्तु पर से विकास-अविकास का नाप निकालने का यहाँ क्यो कहा गया ? इसके उत्तर में यही कहना है कि जननेन्द्रिय के स्थूल विकारो की उत्पत्ति के बारे मे तो पहले कहा जा चुका है। बस, उस स्थूल वृक्ष की गहरी[1] जडें यही हैं। रक्षण, पोषण और सवर्द्धन मे आहार[2] का स्थान पहला है। और जब तक साधक इन्द्रियगम्य या बुद्धि-गम्य जगत् मे विचरण करता है, तब तक वही आहार उसे अपने स्वाद मे लुभायमान कर सकता है, किन्तु जब साधक वैराग्ययुक्त अभ्यास से इन्द्रियगम्य और बुद्धिगम्य जगत् से परे भावनामय जगत् मे विचरण करता है, तभी रस और स्वाद की वास्तविकता का ख्याल आता है।

"जीने के लिए आहार लेना भोजन नही है, वह तो औषधि है।" ऐसी स्वाभाविक दशा प्राप्त हो, इसके लिए स्थूल और सूक्ष्म, आन्तरिक[3] और बाह्य दोनो प्रकार के तप का मेल[4] अपने-आप हो जाता है। उपवास से शरीर खूब हलका और स्फूर्तिमान होता है और वाणी के उपवास से मन को प्रोत्साहन मिलता है। भगवान् महावीर की साधना मे

---

१ गांधी जी यह मानते थे कि 'स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी जीत न सके।'

२. 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'—'भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता,' यह कहा नही जा सकता···!

३. देखो, श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३०।

४ जरा-सा भी स्वाद का विचार आया कि शरीर भ्रष्ट हुआ। और तप की आवश्यकता पड़ी। (व्रत विचार पृ० २५, गांधीजी)।

दिखाई देने वाली समौन तपस्या इसका जीता-जागता उदाहरण[1] है।

जैसे ललितकला में ओतप्रोत कलाकार की आत्मा कलातन्मयता के गाढ क्षणों मे देहाध्यास भूल जाती है, वैसे ही सिद्धि की तालीम मे ओत-प्रोत साधक की आत्मा दिवसो तक आहार लेना स्वाभाविक रूप से भूल जाय, यह समझ मे न आने जैसी अटपटी बात नही है। ऐसी स्थिति मे आहार उसके लिए एक औषधिरूप होने से, वह कुछ भी स्वाद के लिए न ले—इस दृष्टि से जीवन-शक्ति की सामान्य आवश्यकता की पूर्ति के हेतु ही आहार ले—तो भी उसकी गणना दीर्घतपस्वी मे हो, इसमे कोई आश्चर्य नही है।

यहाँ तक तो वासनाविजय से सम्बन्धित बात हुई। अब कामना की दूसरी बाजू—लालसा पर विजय का स्वरूप बताते हैं :—

'जैसे स्थूल देह या उससे सम्बन्धित सासारिक सम्बन्धो मे वासना मुख्यरूप से हिस्सा अदा करती है, वैसे ही स्थान, पदार्थ या उनसे सम्बन्धित प्रलोभनो मे भी लालसा मुख्य हिस्सा अदा करती है।...'

अप्सरा-जैसी सौन्दर्य-मूर्ति वाराङ्गना का सयोग और कामोत्तेजक भोग-विलास के राग-रग के प्रसग मे यौवनावस्था मे कामविकारो को जीतनेवाला योगी भी अणिमादि[2] सिद्धियो मे पछाड खा जाता है। इसी-

---

१. भ० महावीर साधना काल में दीर्घ तपस्वी समझे जाते थे। १२॥ वर्ष और १५ दिन की साधना में (अपवाद के सिवाय) वे लगातार प्रायः मौन रहे थे और एकाग्र विश्व-चिन्तन की धुन मे अधिक-से-अधिक ६ महीने तक निराहार रहे थे, ऐसा शास्त्र में उल्लेख है। आज का शरीर-विज्ञान भी इसे अशक्य नहीं कह सकता। अमेरिका के प्राकृतिक चिकित्सक लम्बे उपवासों से रोग मिटाकर इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि सकारण की हुई लम्बी तपस्या जीवन-शक्ति में बाधक के बदले साधक साबित होती है और स्फूर्तिमय प्रवाह चालू रहता है।'

२. आठ सिद्धियां ये हैं :—अणिमा, लघिमा, महिमा, (गरिमा) प्राप्ति,

लिए कहते हैं :

'रजकरण के ऋद्धि वैमानिकदेवनी'

चाहे रजकण हो या वैमानिक देव की ऋद्धि हो, पर इस प्रकार के निर्ग्रंथ के लिए तो—

'सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो'

अर्थात्—'दोनो एक सरीखे पुद्गल है, और सभी पुद्गलो का स्वभाव भी एक सरीखा है।'

और असल मे बात भी ऐसी ही है। हीरा और काच का टुकडा, इन दोनो मे थोडे-वहुत रासायनिक या भौतिक अन्तर[1] के सिवाय दूसरा है भी क्या? हीरे मे जो गुण अधिक मात्रा मे हैं, वह गुण अल्पमात्रा मे ही सही, काच के टुकडे मे भी हैं। पदार्थमात्र[2] की यही स्थिति है। वही हीरा एक वार कुदरती परिवर्तन के कारण पुन काच या पत्थर बन सकता है और पत्थर तथा काच को अन्य रासायनिक[3] या नैसर्गिक

प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावशायित्व। (देखो—पातंजल योगदर्शन)।

१. वैज्ञानिक दृष्टि से चूना और 'कार्वोनिक एसिड' दोनों में होता है।

२. नाद, उष्णता, प्रकाश, लोहचुम्बक, विद्युत्, गर्म, ठंडा, गति, स्थिति तथा रूपरंग मे परिवर्तन जिसमे हो उसे द्रव्य कहा जाता है [स्थूल-विज्ञान की दृष्टि में]। जैनदृष्टि से शब्द, अन्धकार, प्रभा, छाया, ताप, वर्ण, गन्ध, रस आदि की परिवर्तनशीलता जिसमें हो उसे पुद्गल (जड पदार्थ) कहा जाता है। (देखो उत्तरा० अ० २८।१२)।

३. अमुक प्रकार की समुद्री मछली के पेट मे कुदरत ने ऐसी करामात पैदा की है कि सामान्य रजकणो से वह सच्चे मोती की रासायनिक उत्पत्ति कर देती है। इस कठिन वात को एक ओर रखिए तो भी जमीन में निकलने वाली हीरे की खानें मूल में तो पत्थर की ही हैं। सोना भी ताम्बे का निकटवर्ती धातु है।

सयोगो के मिलने पर हीरे भी बन सकते है।[1]

उपर्युक्त चरणो मे रजकण के स थ वैमानिक ऋद्धि का अन्तर बताने का कारण यह है कि रजकण यानी दुनिया की दृष्टि से मामूली से मामूली वस्तु और वैमानिक[2] देव की ऋद्धि यानी अमूल्य से अमूल्य वस्तु! ··

परन्तु वह ऋद्धि चाहे जितनी[3] मूल्यवान हो और धूल का छोटे-से-छोटा कण चाहे मामूली हो तो भी दोनो क्षण-क्षण परिवर्तन होने के समस्वभाव वाले हैं। उनका सौन्दर्य चाहे जितना मोहक (आकर्षक) हो फिर भी वह चेतन को तृप्त करने मे असमर्थ है।

ऐसा इस (पुद्गल) का मौलिक गुण जिसने हृदयगम कर लिया है, उसे वह कैसे प्रसन्न कर सकता है या नाराज कर सकता है? उलटे वह तो दुनिया के उन लोगो को, जो इसमे मोहित होकर फँसते हैं, उन्हे ललकारता हुआ कहता है—

---

१. चार प्रकार के देव—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक—मे वैमानिकदेव सर्वोच्च माने जाते हैं और उनकी समृद्धि अपार होती है (देखो—उत्तरा० अ० ३६), एक तुच्छातितुच्छ देव के जूते की कीमत की तुलना में अमेरिका की अखूट सम्पत्ति भी कम है, ऐसी कल्पना है।

२. स्थूल विज्ञान की दृष्टि से परिमेयता, जडत्व, गुरुत्वाकर्षण आदि धर्म है।

३. दिशा भूली हुई (दिङ्मूढ़) दुनिया, हीरा, सोना, चाँदी और नकद सिक्कों का चाहे जितना महत्व बढ़ा चुकी हो, पर वास्तविक रूप से मिट्टी मे पैदा हुए सिक्के की कीमत मिट्टी की अपेक्षा कम है अधिक नहीं है। इसी कारण मीरा की चैतन्य-पिपासु आत्मा बोल उठती है—

"तारा हीरला माणेक ने राणा शुंरे करूं?
शुरे करूं हुँ राणा शुं करूं, तारा हीरला माणेक ने शुंरे करूं?"

'परवस्तुमां श्ये मुंझवो, ऐनी दया अमने रही'
हे दीनानाथ ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?…

निष्कर्ष

ग्यारहवें और बारहवे पद्यो का समासरूप मे निचोड़ गीताके इस श्लोक मे आ जाता है :—

'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥'
(गीता ६-१०)

'एकान्त, अभय, सयम, आगाररहितता और मूर्च्छारहितता, ये सब योग के उत्तमाग है ।

आत्माके सच्चिदानन्दस्वरूप की कल्पना करें तो जिस सत्यज्ञान के वाद अनन्त आनन्द का अक आता है, वह ज्ञान और स्थिति ही तो सहज तप है । जिस ज्ञान और आनन्द के बीच मे तप की स्थिति न होती तो उस आनन्द मे कोई लज्जत न होती ।

परमात्मा के सत्य, शिव, सुन्दर और सदानन्द (सच्चिदानन्द)स्वरूप मे रसिकता का तत्त्व तप ने ही डाला है । पौर्वात्य धर्मों की गरिमा का विश्वव्यापी पटह (ढोल) तप.पराकाष्ठा की विजय-पताका ने ही वजाया है ।

स्वाद पर सम्पूर्ण विजय+परिग्रह पर पूर्ण विजय=यही तप की पराकाष्ठा…

भगवद्गीता और आचारागसूत्र दोनो की दृष्टि मे 'विरक्ति कायम रखते हुए नियत—अनिवार्य रूप से आ पडे हुए—कर्म करते हुए भी फल चाहे जो आए उसके प्रति लेशमात्र भी अच्छी या बुरी आकाक्षा न करना, यही तप साधना… ।'

ध्येय के प्रति दृष्टि रखते हुए अविरत प्रणाली से, अचल एकाग्रता-पूर्वक लगे रहना, यही तप है… ।

तप के बिना प्रेमसिद्धि, रससिद्धि, अनासक्तिभावसिद्धि और स्वभाव-तेजःसिद्धि नही हो सकती ।

—x—

[१३]

प्रास्ताविक

चारित्र का (निश्चय दृष्टि से) अर्थ है—परभाव से लौटकर स्वभाव की ओर गति करना । सत्य सूझने के बाद उसे आचरण मे—अमल मे लाना, इसी का नाम चरित्र-निर्माण है । इस निर्माण की अवधि (सीमा) तक पहुँचने मे मिथ्यात्व और अव्रत की कितनी जबरदस्त खाइयाँ और किले लाँघने पडते है ? प्रमाद, विषय और कषायादि महारिपुओ को जीतने के लिए कितना भगीरथ पुरुषार्थ करना पड़ता है ? और इस पुरुषार्थ की महायात्रा मे प्रतिक्षण प्रभु-परायणता के ध्रुवतारे की ओर कितनी सावधानी के साथ देखते रहना पडता है ? यह वर्णन ठेठ तीसरे पद्य से लेकर बारहवे पद्य तक मे विविधरूप मे हम देख आए । एक तरह से यहाँ तक तो केवल युद्ध की ही बात थी । यानी विश्राम-आराम या आमोद-प्रमोद की तो बात ही नही (आई) थी ।…और क्षण मे विजय और क्षण मे पराजय इस प्रकार हार-जीत के हिंडोले मे बैठे हुए साधक को उतार-चढाव की अनिश्चित दशा मे आमोद-प्रमोद या विश्राम-आराम सूझे भी कैसे ? आगे के पद्य मे युद्ध की पराकाष्ठा के बाद विजयके स्थायी फल का वर्णन करते है —

ऐसे समय मे अनेक भवो मे भ्रमण करने के बाद पूरी तरह थका हुआ जीव-मयूर आत्मनन्दनवन मे कितना नाच उठता है ।

एम पराजय करीने चारित्र मोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्वभावजो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥ अपूर्व…(१३)

अर्थ—(पहले जिस प्रकार के आन्तरिक संग्राम का स्वरूप हम जान चुके) उस प्रकार के धर्मयुद्ध मे चारित्रमोह का अन्तिम पराजय हो जाने के वाद अपूर्वकरण भाव की भूमिका सहज आ जाती है। और वहां से क्षपकश्रेणि[1] की परिणामधारा पर क्रमशः चढ़ते-चढ़ते आत्मा को अपने अनन्त शुद्ध स्वभाव के एकनिष्ठ चिन्तन की लोकोत्तर शान्ति मिलती है।

हे हृदयेश्वर ! ऐसा भाग्यशाली क्षण कब आएगा ?···

विवेचन—सहरा के अरण्य (मरुस्थल) मे जल के नाम से मृग-जल जैसे पथिक को वारम्वार हैरान करता है, वैसे चारित्र के नाम से मोह साधक को वारम्वार दिङ्मूढ कर देता है। जैन आगम मे वताया गया है कि 'सम्यक्त्व—सत्यज्ञान—प्राप्त होने के वाद चारित्र के अभाव वालो की सख्या के वजाय चारित्र-मोहियो की सख्या हमेशा अधिक रहती है।' इसका कारण तो स्पष्ट है। जीव को स्वरूप की भूख है ही, पर वह इसके विना इतना आतुर वन गया है कि "मिथ्यात्व विद्यमान हो वहाँ तक सद्व्रत के प्रति प्रेम पैदा होता ही नही। अव्रती से गफलत हुए विना नहीं रहती ! प्रमाद नष्ट हुए विना कषायो से निवृत्त नही हुआ जा सकता ! कषायो से निवृत्त हुए विना कर्मों का सर्वथा वियोग सम्भव ही नही है। और कर्मों के आत्यन्तिक वियोग के विना स्वरूपेन्दु (स्वभाव का चन्द्रमा) सोलह कला से खिल नही सकता ! ··"

—(हस्तलिखित 'साधनापत्र' पुस्तक १३ मे से)

इतनी स्पष्ट वात साधक (भ्रान्ति मे पडकर) भूल जाता है।

---

१ यहाँ क्षपक और उपशम दो श्रेणियाँ शुरू होती हैं, मगर यहाँ क्षपक श्रेणी ही ईष्ट है। क्योकि उपशमश्रेणि पर चढ़ा हुआ आत्मा ऊपर जाकर भी नीचे गिरता है, जब कि क्षपकश्रेणी मे पतन (गिरने) का लेशमात्र भी भय नहीं है। (इस वारे मे विशेष विवरण विवेचन मे देखो)

इसीलिए सासारिक वाजीगरी का पासा देखते-देखते सीधा पड जाता है। फलत —

अपना महामूल्यवान् वीर्य—जा ब्रह्मभुवन मे पहुँचने का पाथेय है, उसके बदले वह उसे जननेन्द्रिय के असयम मे बर्बाद कर डालता है।

अपनी तेजस्वी बुद्धि—ब्रह्मचिन्तन के लिए है। उसके बदले वह उसे तृष्णा की वैतरणी नदी को बढाने मे दुरुपयोग करता है।

तथा उसके प्राण का तत्त्व, मन की अस्मिता, चित्त की प्रीति और शरीर की तप शक्ति का उपयोग हिसा और मिथ्याचार (दम्भ) मे परिणत होता है।

यो गिरते-पडते, ठोकर खाते-खाते भी अभिमान की ग्रन्थी (गठड़ी) सिर से उतारकर ज्यो-ज्यो हलका होता जाता है, त्यो-त्यो आन्तरग्रन्थी छिन्न होती जाती है। जब वह दृढ अप्रमाद की भूमिका मे आता है, तब उसका 'क्षण-क्षण भयकर भावमरण' का डर जाता रहता है। इसीलिए कहा है —

"एम पराजय करीने चारित्रमोहनो
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो।"

अर्थात्—चारित्रमोह के पराजित होने के बाद जो कुछ सिद्धि मिलती है, वह अपूर्वकरण की है। अपूर्वभावकरण जैन तत्वज्ञान का पारिभाषिक शब्द है। उसका सरल अर्थ तो यही होता है कि जिसे पहले कभी देखा न हो (साक्षात्कार न किया हो), ऐसा मूर्तिमान—सक्रिय भाव दिखाई दे। परन्तु इस भूमिका को हम दार्शनिक परिभाषा मे परमविज्ञान की भूमिका कह सकते है, जहाँ चेतन सिद्धि की भूमिका पर प्रतिष्ठित होता है।

भगवान् बुद्ध की भाषा मे साधना की यह पराकाष्ठा है, क्योकि

उनका अन्तिम लक्ष्य निर्वाणस्थिति[1] प्राप्त करना था, और वह स्थिति यही है । श्री अरविन्दयोगी[2] की भाषा मे कहे तो 'आध्यात्मिक समता की चार स्थितियाँ हैं—(१) निष्क्रिय और सक्रिय समता, (२) शान्ति, (३) सुख और (४) आनन्द इन चारो स्थितियो मे से यह दूसरे नम्बर की स्थिति है ।' शुद्धि, सिद्धि और मुक्ति, इन तीन वेजोड साक्षात्कारो के जीवन के क्रम की दृष्टि से देखे तो यह सिद्धि नामक दूसरा साक्षात्कार है । जैन तत्त्वज्ञान की परिभाषा के अनुसार इसका गूढ[3] अर्थ लें तो यह 'स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रम और अन्य-स्थितिवध, इन पाँचो की पहली वार निष्पत्ति (प्राप्ति) वाली जीव की दशा है ।'

जैसे वैदिक तत्त्वज्ञान और वौद्ध तत्त्वज्ञान मे आत्मा को क्रमश (अन्तिम स्थिति मे) केवल मुक्त और शून्य बताया गया है और प्रकृति या चित्तसस्कारो के कारण ही यह सब जगत् का प्रपच दिखाई देता है, ऐसा माना गया है, वैसे जैनतत्त्वज्ञान नही मानता । अपितु ससारी (कर्मवद्ध) आत्मा स्वय इसमे आवरण के कारण मिला हुआ है, ऐसा मानता है । इस आवरण को—(विभिन्न परिणामो की अपेक्षा से पैदा हुए) आठ भेदो को—अष्टकर्म के नाम से सूचित किया गया है ।

जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यह भूमिका आठवे अनियट्टीवादर (अनिवृत्ति वादर) नामक गुणस्थान की है । इसमे अप्रमत्तता—आत्म-जागृति सहज होने से कर्मों का तीक्ष्ण आवरण छिन्न हो जाता है और सामान्य (शरीर मौजूद होने से रहने वाले) आवरण के उस पार रहे हुए आत्मा का ओजस्वी रूप का साक्षात्कार होता है ।[4]

---

१. 'संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण' ! (संस्कार का क्षय करना ही निर्वाण है)—धम्मपद ब्रा० वर्ग ।
२. 'श्री अरविंद तत्त्वज्ञान—ज्ञानयोगना अनुशीलन' मे से पृ० ४ ।
३. देखो जैनागम शब्द सग्रह पृ० ७८ ।
४. विशेष विवरण के लिए देखो—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३, कम्मपयडी, गोम्मटसार (कर्मकांड) कर्मग्रन्थ आदि जैनाचार्यकृत ग्रन्थ ।

परन्तु इतनी दूर आ चुकने के बाद भी एक कौतुक—विचित्र घटना —पैदा होती है। यह तो हम पहले बता चुके हैं कि "सातवें से लेकर बारवे गुणस्थान तक की सभी भूमिकाएँ आशा-निराशा के झूले जैसी हैं" इन गुणस्थानो का स्पर्श एक ही जन्म (भव शरीर) मे अनेक बार हो जाता है। ये सब भूमिकाएँ (गुणस्थानक) सिर्फ एकाग्रचित्त से उत्पन्न विचारधाराओ का ही रूप है, इसीलिए तो इनकी स्थिति भी एक[1] मुहूर्त्त के अन्दर-अन्दर की (अन्तर्मुहूर्त की) होती है।

एक ओर उच्चता का आकर्षण साधक को आन्तरिक और बाह्य करणों से एकदम जोरो से खीचता है; दूसरी ओर अध्यासो का प्रभाव उसे अपनी ओर जकडकर रखता है। जिस साधक ने आमूलाग्र शुद्धि की भूमिका हस्तगत कर ली होती है, वह अवश्य इन अध्यासो के जाल से अपनी तीव्र शक्ति के जोर से बच निकलता है, नही तो ऐसे ही रह जाता है। इसीलिए प्रभुचरणो मे साधक निवेदन करता है—

'श्रेणी क्षपक तणी करीने आरूढ़ता;
अनन्यचिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।'

'क्षपकश्रेणी मे उत्तरोत्तर चढकर यानी कर्म के समूल नाश करने की परिपाटी के मार्ग पर पहुँचकर—अनन्त शुद्ध स्वभाव के अविच्छिन्न धाराप्रवाही चिन्तन का आनन्द लूट सकूं, मुझे तो ऐसी स्थिति चाहिए नाथ!'

यहाँ एक शंका पैदा हो सकती है कि इतनी उच्च भूमिका तक आने के बाद भी उपशम श्रेणी मे प्रविष्ट हो जाने से पतन अवश्यम्भावी है, इसका क्या कारण? इसका समाधान यह है कि ऐसे साधक की चारित्र-शुद्धि के मूल मे ही भूल होती है। वैसे बिना नीव की चाहे जितनी ही आलीशान इमारत क्यो न हो, टिक नही सकती, वैसे ही मूल की अशुद्धि पर चाहे जितनी उच्च भावनाओ का महल खडा किया जाय, वह स्थायी

---

१ 'अन्तोमुहुत्तमित्तं चित्तवत्थाणमेगंवत्थुम्मि' (साधनापत्र हस्तलिखित पृ० १३ में से)।

नहीं रह सकता। मौलिक अशुद्धि रहने का कारण तो प्रबल सत्ता, प्रबल सामर्थ्य, प्रबल कालस्थिति और प्रबल रससवेदन वाला मोहराज है। वह साधक के सामने ऐसा दृश्य खडा कर देता है, मानो मोह बिलकुल निर्बल और क्षीणप्राय हो गया हो। और साधक की भोली आत्मा उस समय उसके (मोह के) दम्भ का शिकार बन जाती है और अप्रमत्तता (सावधानी) का दौर खो बैठती है। मगर क्षपकश्रेणी के योग्य बना हुआ साधक विवेकसम्पन्न और श्रद्धासम्पन्न होता है। उसके जीवन मे जैन-दृष्टि से ज्ञान और क्रिया का सुन्दर साहचर्य होता है। यौगिक दृष्टि से ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सुन्दर समन्वय होता है। इसीलिए उसका दीर्घ तप आत्मा के अनहद, उदार और अकलक परम-स्वरूप के अनाहत—मनन-निदिध्यासन की भूमिका का परिपाक पैदा करता है, जिसके मिलने पर 'अनन्त युग का भवभ्रमण एकदम नष्ट हो जाता है।

अहो नाथ! ऐसी अलौकिक दशा कब आएगी?

निष्कर्ष

विजय के बाद जो उल्लास होता है, उसकी क्षणें निराली ही होती है। विजय के बाद मिलने वाला प्रकाश, किसी अतर्कित, अगम्य रहस्य

---

१. यद्यपि ऐसा साधक इतना नीचे गिरकर भी अमुक काल तक उसी अवस्था में रहता है, फिर भी किसी एक निमित्त को पाकर किसी एक भव में पूर्व स्मृति उद्बुद्ध हो उठती हैं और वह पुन. साधना शुरू किये बिना रह ही नहीं सकता। क्योकि इतनी हद तक चढने के बाद पदभ्रष्ट हुआ जीव सामान्य शक्तिवाला नहीं होता। इस भूमिका का इससे अधिक वर्णन यहाँ अप्रासंगिक है।
(जिज्ञासु हस्तलिखित 'साधनापत्र' पु० १३ में पृ० १०२२ से १०३७ तक के पन्ने देख लें।)

का पर्दा चीरकर नव्य भव्य दर्शन कराता है। मगर सभी स्थूल विजय अन्ततोगत्वा पराजय मे परिणत होते है, और उसका साधन भी प्राय पशुवल होता है, इसलिए वह उल्लास (हर्ष) अन्त मे विषाद मे परिवर्तित हो जाता है। प्रकाश के वदले एकाएक अन्धकार छा जाने से जीवनपथ मे भारी निराशा फैल जाती है। आन्तरिक समराङ्गण के विजय मे हार की कभी सभावना नही रहती इसलिए वह उल्लास और प्रकाश स्व-पर के आत्यन्तिक दु ख के नाश का कारण वनकर सूक्ष्मबल के प्रभाव से विश्वानन्द के कुज मे खीच ले जाता है। परन्तु ऐसे आन्तरिक विजय के लिए पूरी कीमत चुकानी पडती है।

—×—

[१४]

प्रास्ताविक

'अपूर्वकरणभाव' की अवस्था के वाद चेतना के प्रकाश का जो अनुभव होता है, उसका हूवहू वर्णन योगीश्वर आनन्दघनजी करते है .—

'आतम अनुभव रसिक की नवली कोऊ रीत,
नाक न पकड़े वासना, कान गहे न प्रतीत ॥'

सराश यह कि आत्मानुभव इन्द्रियगोचर नही है। यह अनुभव तो अतीन्द्रिय है और इस अनुभव से पैदा होने वाली रसिकता भी अतीन्द्रिय है। इसीलिए पिछले पद्य के अन्तिम चरणो मे कहा है कि दूसरा साक्षात्कार चिन्तन का ही विषय है और वह भी अनन्य चिन्तन का कारण है, जिसके पीछे आर्त और रौद्र ध्यान[1] की कलुषितता नही, अपितु

---

१. आर्त्त और रौद्रध्यान, उसमे भी आर्तध्यान अधिक-से-अधिक छठे गुणस्थान तक रहता है। बाद की भूमिका में सातवें से सिर्फ धर्म ध्यान, ८ वें से १२ वें तक धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान और १३-१४वें में तो सिर्फ शुक्लध्यान ही होता है। सर्वांगी

धर्मध्यान[2] और शुक्लध्यान[3] की ही सुन्दर पीठिका है। इसलिए ऐसे चिन्तन का विषय अनात्मभाव कदापि नही हो सकता, केवल अतिशय शुद्ध आत्मा की वहाँ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभूति होती है। कविवर श्री बनारसीदासजी ने कहा है—

'वस्तु विचार ध्यावते, मन पावे विश्राम,
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम।'

अनुभव तो अनिर्वचनीय होता है, वह सिर्फ चिन्तन का ही विषय होता है। जैनदृष्टि से जीव के अत्यन्त नजदीक का पर्याय भावमन है, वही ऐसे अनुभव को ग्रहण करने वाला है। वेदान्त मे 'भावमन' के बदले 'अन्त करण' शब्द का प्रयोग होता है और बौद्धदर्शन मे 'चिति सस्कार' शब्द का। अथवा "मनो पुव्वंगमा धम्मा, मणोसेट्ठा मणोमया' यानी जिसमे सदा सबसे आगे मन रहता है, अथवा जिसमे मन मुख्य हो, ऐसे सभी धर्म हैं। परन्तु यहाँ जिस भूमिका की बात कही है, उस भूमिका मे तो इसका विलय होता है, इसलिए इस अपेक्षा से यह बौद्धदर्शन की अन्तिम

संविधान तैयार करना शुक्लध्यान के हाथ में है। इसके बारे में विशेष विवरण आगे आएगा ...।

२ धर्मध्यान के चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक-विचय और संस्थानविचय। ये चारो बुनियाद हैं। विस्तार के लिए देखो स्थानांग सूत्र।

३. बारहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान के दो पाद (बुनियाद) मे से एक में केवल पृथक्त्व (वितर्क सविचार) भेद-चिंतन होता है, दूसरे में एकत्वविचार—अभेदप्रधान और स्थिर चिंतन होता है।

४ पहले कहे अनुसार ८ वें गुणस्थान से स्पष्ट दो श्रेणियाँ (सड़कें) फूटती हैं—उपशम और क्षपक। उपशम श्रे० वाला (चिंतन द्वारा) अधिक-से-अधिक ८ वे से १० वें तक जाकर नीचे गिर जाता है। क्षपक वाला ८-९-१० से सीधे १२वें में पहुँच कर अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहकर १३ वें में पहुँच जाता है.....।

निर्वाणभूमिका है। जैनदृष्टि इससे भी आगे बढकर सोचती है। अर्थात् अपूर्वकरण के अनुभव के बाद साधक नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान पार करके क्षपकश्रेणि पर चढने के लिए बीच मे ग्यारहवाँ छोड़कर सीधा बारहवे गुणस्थान पर पहुँचता है। अत वहाँ की स्थिति का इस पद्य मे वर्णन करते है —

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्ण स्वरूप वीतराग थई,
प्रगटाऊँ निज केवलज्ञान निधान जो ॥ अपूर्व···॥१४॥

अर्थ—मोहरूपी स्वयंभूरमण समुद्र को पार करके उस पार जहाँ क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान[1] की भूमिका है वहाँ पहुँचकर (अन्तर्मुहूर्त समय के) अन्तिम समय मे वीतरागभाव को पराकाष्ठा पाकर आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान—यानी केवलज्ञान—के खजाने का साक्षात्कार करूँ! हे सर्वज्ञदेव! ऐसी अलौकिक शुभवेला कब आएगी?

---

१ इस पुस्तक मे कई स्थलो पर अलग-अलग रूप से जिन गुणस्थानो की बात हम कर चुके हैं, उनके स्वरूप की आद्योपान्त संक्षिप्त झाँकी यहाँ दी जा रही है :—

'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.' इस पर से नीचे के क्रमबद्ध १४ सोपान शास्त्र में बताए हैं—'कम्म विसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीव ठाणा पणत्ता। तंजहा—मिच्छादिट्ठी, सासादन, समामिच्छादिट्ठी, अविरय समादिट्ठी, विरयाविरयसम्मादिट्ठी, पमत्त संजती, अपमत्त-संजती, नियट्टीबायर, अनियट्टीबायर, सुहुम संपराय, उवसमिय, खवय, सजोगी केवली, अजोगी केवली।' इन चौदह गुणस्थानो का स्वरूप इस प्रकार है :—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—यह मिथ्यादृष्टि की भूमिका होते हुए भी गुणस्थान इसलिए कहलाता है कि ऐसे साधक की दृष्टि मे मिथ्यात्व होते हुए भी विचार और विवेक का शिलान्यास यहाँ से होता है, साधना का शिलारोपण

विवेचन—दर्शनमोह का एक सागर लाँघने के बाद, अनन्त तूफानी दूसरा चारित्र मोहरूपी महासागर आया था। इस महासागर को पद्यकार ने स्वयभूरमण समुद्र की उपमा दी है, वह यथार्थ ही है। जैसे लोक-सस्थानवर्णन मे यह सबसे अन्तिम और सबसे बडा समुद्र है, वैसे आन्तर-मथन मे भी यह अन्तिम और महान् सिन्धु है। गत पद्य मे इसे महारिपु की उपमा देकर इस पर विजय पाने की बात की थी, अब यहाँ तो

यहाँ से शुरू होता है। इस प्रकार संसार मे इस भूमिका पर अनन्त जीव रहते हैं, इसलिए एक ही गुणस्थान की तारतम्यभाव से अनन्त कक्षाएँ होती हैं। (२) सास्वादन — (इस गुणस्थान के बारे में यही कहना है कि सम्यक्दृष्टि प्राप्त होने पर पतन होने से सिर्फ थोड़ा-सा सम्यकत्व का स्वाद रहता — असर रहता है, वहाँ तक यह गुणस्थान माना जाता है।) (३) सम्यक्मिथ्यादृष्टि—मिथ्यात्व मे से निकलते ही सम्यक्दृष्टि प्राप्त होने से पहले जो मनोमंथन की भूमिका होती है, वह यह है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान की स्थिति कम-से-कम एक समय की और अधिक-से-अधिक अन्तमुहूर्त की मानी गई है, इस पर से इन दोनो गुणस्थानो का आधार विचारो की दशा पर है, यह सहज ही समझा जा सकता है। (४) सम्यक्-दृष्टि—जिस भूमिका पर सम्यक् (सत्य) के दर्शन (झाँकी) होते हैं। 'दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जो' इस पहले आए हुए पद्य में बताई गई यही भूमिका है। मोहनीयकर्म के मुख्य दो भेद—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह के सम्यक्त्वमो० मिथ्यात्वमो० मिश्रमोह यो तीन भेद। चारित्र मोह के क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय और इनके प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय, सज्ज्वलन इस प्रकार चार-चार भेद, कुल मिलाकर १६ कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद ये ९ नोकषाय मिलकर २५ भेद होते हैं। यो मोहनीयकर्म के कुल २८ भेद हुए। उनमें से दर्शनमोह की तीन

उसकी जीत पर कलश चढ गया है, क्योकि क्षीणमोह गुणस्थान (मोह के आत्यतिक अभाव वाली) दशा ही ऐसी है कि वहाँ स्वानुभव का चन्द्रमा (कलानिधि) सोलहो कलाओ से खिला हुआ सहज मिल गया है। अथवा योगीश्वर आनन्दघनजी के शब्दो मे कहे तो—

समता रतनागर की जाई, अनुभवचन्द सुभाई;
कालकूट तजो भाव में श्रेणी, आप अमृत ले आई।
—(आनन्दघन वहोत्तरी पद्य ३०-३)

प्रकृतियाँ क्षीण होती हैं, समकित के वर्णन के समय तीन भाव बताए गए थे—"क्षायिक, क्षयोपशम, उपशम। क्षायिक में क्रमशः जड़मूल से कर्मप्रकृति का क्षय—आमूलाग्र दोहरी शुद्धि—होती है। क्षयोपशम में उदयप्राप्त ४ घातीकर्मों का क्षय और अनुदीर्ण (सत्ता में रहे हुए) का उपशमन (दबाना) होता है। उपशम में उदयप्राप्त मोहनीय कर्मप्रकृति का क्षय और जो उदय मे आने को तैयार हुई हो, उन्हे दवाने की क्रिया होती है। विकास पा रहे साधक मे ये तीनो भाव सातवें गुणस्थान तक होते हैं। आठवें से स्पष्ट दो श्रेणियाँ फूट जाती हैं—उपशम और क्षपक। उपशम श्रेणी वाले का पतन अवश्य होता है और क्षपक श्रेणी वाले का विकास अवश्य होता है। इस गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्टय का नाश हो जाता है। (५) देशविरति गुणस्थान—सत्य की झाँकी होने के वाद वह जीवन में उतरे विना नहीं रहता। और इसलिए ऐसे साधक को वैराग्यभाव स्वयं स्फुरित होता है। इस गुण-स्थान में कषाय की अप्रत्याख्यानी दशा का नाश हो जाता है। (६) प्रमत्तसयति गुणस्थान—इसमे वह वैराग्य दृढ़ होता है—यानी सम्पूर्ण संयम प्राप्त होता है। परन्तु पूर्वाध्यास बारम्बार आते है इसलिए भूलें हुआ करती हैं। और भूलों का पश्चात्ताप भी हुआ करता है। इस गुणस्थान मे कषाय की प्रत्याख्यानी दशा का नाश हो जाता (७) से (११) सातवें से ग्यारहवें गुणस्थान के नाम क्रमशः ये हैं:—

अर्थात्—रत्नाकर मे से जो समता मिली उस समता और अनुभव के सहचार से आत्ममथन करने से जो जहर था, उसे छोडकर (उपशम भाव की श्रेणी छोडकर, क्षायिक भाव की श्रेणी पर जाने से) अपने आप अमृत निकल पडा।" अब यह कहने की शायद ही जरूरत होगी

अप्रमत्तसंयति, निवृत्तिबादर, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय व उपशांत मोह। इन सबकी स्थिति कम-से-कम एक समय की, अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त की है। सातवें मे संज्वलनकषायवर्ग के क्रोध तक का समूल नाश हो जाता है। अप्रमत्तदशा प्रकट होने से इस भूमिका वाले साधक का उपयोग खासकर अन्तर्निरीक्षण में ही होता है। पर यहाँ आन्तरयुद्ध बढ़ जाता है। अगर आन्तर और बाह्य, व्यवहार और निश्चय, द्रव्य और भाव, यों उभयमुखी शुद्धि न हो तो ऊपर चढ़ करके भी अन्त में पुन. गिरना पड़ता है। क्योंकि इस दशा में एक ओर से पतन को जगाने वाले निमित्त यकायक घुस आते हैं। स्वच्छन्दता से पोषित अभिमान-अहंभान अन्ततः मोहांकुर फैलाकर महावृक्ष बना देता है और दर्शनमोह के मूल स्थान पर ले आता है। पर क्षपकश्रेणी पर चढा हुआ साधक सावधान होता है, आठवें मे मान को, नवमे में माया को निर्मूल कर देता है, और लगे हाथों माया से प्रकट होने वाले वेदमान (स्त्री को पुरुष के प्रति, पुरुष को स्त्री के प्रति और नपुंसक को दोनो की ओर होने वाला लैंगिक आकर्षण) छूट जाता है। इसलिए दशवें मे कषाय के कारणभूत विकारी हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा भी दूर हो जाते हं और बाद मे वह साधक सीधे बारहवें गुणस्थान का स्पर्श करता है। बारहवें के बाद की स्थिति तो विवेचन में अब बताई जायगी और ग्यारहवां गुणस्थान तो सिर्फ उपशमश्रेणिवाले के लिए है।

[यह टिप्पणी हस्तलिखित भगवतीसूत्र के अनुवाद मे से ली गई है।—विवेचक]

कि इस भूमिका पर विवेकबुद्धि के बाद जागृत होने वाली श्रद्धा ने ही लाकर खडा किया है। श्रद्धारहित पुरुषार्थ चाहे जितना प्रबल होता तो भी आखिर निष्फल सिद्ध होता।

इस भूमिका मे मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश होने से पृथकत्व[1] विचार रहित अर्थात् एकत्ववितर्कनिर्विचार नामक शुक्लध्यान का द्वितीय पाद आता है।

इससे यह दर्शन यानी तीसरा साक्षात्कार बिलकुल अनोखा मालूम पडता है। यहाँ समता की पराकाष्ठा होने से—

'अन्तसमय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई'

इस गुणस्थान के निदिध्यासन से इस दशा मे रहा हुआ जीव मुक्ति की वरमाला प्राप्त कर ही चुका समझना। केवल ब्रह्मचिन्तन का प्रसाद पैदा होने से (प्राप्त होने से) ससार की वेल मुर्झाकर अलग गिर जाती है। यानी अन्तमुहूर्त तक की ही स्थिति यहाँ होने से उतने काल के अन्तिम क्षण मे वीतरागता की पराकाष्ठा सिद्ध हो जाती है। साथ ही आन्तरिक करणो का तेज वाह्य करणो का जडमूल से परिवर्तन कर डालता है। इससे मन, बुद्धि, प्राण, शरीर और इन्द्रियाँ आदि सभी सामग्री—मतलब यह कि प्रकृति के सभी वल—उसके अधीन हो जाते हैं। श्री अरविन्द के पूर्णयोग की दृष्टि से कहे तो—'सभी कारण अपने-

---

१. सिर्फ मनोयोग से एक द्रव्य, एक अणु और एक पर्याय का चिन्तन जिसमें हो, वह पृथकत्त्व विचाररहित एकत्ववितर्कनिर्विचार कहलाता है। पहले पाद मे अन्य योग और अन्य पदार्थ का संक्रमण था, वह इस (द्वितीय पाद) मे बन्द हो जाता है। इसके कारण प्रथम मुख्य चार घाती कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—का आत्यन्तिक क्षय होकर केवलज्ञान-प्राप्ति होती है, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

अपने मूलधर्म को धारण कर लेते है। इससे इस (पूर्णात्म) विज्ञान[1] के सूर्यलोक मे रहने वाला पुरुष विश्व मे कार्य करने वाली विराट् शक्तियो पर प्रचण्ड प्रभुत्व (वशीकरण) पा करके उनके कार्य द्वारा समस्त विश्व के क्रमविकास पर अद्भुत प्रभाव डाल सकता है। और तत्काल—

'प्रगटावु' निज केवलज्ञान निधान जो।'

आत्मज्ञान के असीम भण्डार की कुजी हाथ लग जाती है। समस्त विश्व का मौलिक विज्ञान हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है। सर्वांगी त्रिकाल (आत्म) दर्शन हो जाता है। श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से पहले श्री गौतम प्रभु की इस पद्योक्त भूमिका ने कडी कसौटी की थी।

इन्द्रभूति गौतम जब से महावीर चरणो मे आए, तब से उनके हृदय बन गए थे। भगवान् के प्राणवायुसचार से वह हृदय धडकता था।

-ी गौतम प्रभु शत्रु-मित्र के प्रति समदर्शिता दिखा सके थे, माना-पमान के कडवे-मीठे घूंट समरसतापूर्वक पी सके थे, जीवित और मरण दोनो दशाओ को एक तराजू पर तौल सके थे। परन्तु भ० महावीर की देहवेल की आत्यन्तिक विरहबेला मे उनकी मेरु-सी निष्कम्प आत्मा डोल उठी। 'प्रभु का आत्महस शरीररूपी पीजरे में से उड जायगा, फिर मेरे मोक्ष का क्या होगा ? 'यह ससार जरा भी नही सालता, मगर भगवान् के साक्षात् शरीर का वियोग सालता है। वह पास मे हो तो बस और कुछ

---

१. यौगिक सिद्धियो की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न प्रकार के अतिशय—व्यतिकर—वीतराग पुरुषो के लिए बताए गए हैं, वहाँ यह आध्यात्मिक भूमिका ही समझनी चाहिए। इसका मुख्य परिणाम किसी स्थूल जीवन पर नहीं, अपितु विश्व-प्रकृति के गूढ़ नियमो—जो मानव-प्रकृति में सूक्ष्मरूप से कार्य कर रहे हैं—पर आता है। इसीलिए गीता की दृष्टि से युगप्रधान पुरुष और जैनदृष्टि से तीर्थंकर पुरुष विश्व-हृदय का आश्चर्यजनक परिवर्तन कर सकते हैं।

भी नही चाहिए, अरे! मोक्ष की भी कोई परवाह[1] नही! प्रभु गौतम स्वामी के इस मथन को ताड गए और विचारकिरण फेंके—'ओ प्रिय साथी! महावीर तुझ मे है! और उसे ढूंढने के लिए तू बाहर झाँक रहा है। सभी सिद्धियो का जीतना सरल है, परन्तु प्रभु के साकार स्वरूप-दर्शन की प्यास बुझाना बहुत कठिन है। परन्तु मेरे आत्मीय गौतम! इस प्यास को दूर किए बिना भी कोई चारा नही! अप्रमत्त बन! भगवान् कुछ भी देते नही है, सिर्फ प्रेरणा देते है। अन्दर डुबकी लगा और देख। वह तुझे केवल-स्वरूप मे दिखाई देगा!'

ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रशस्तमोह[2] के अन्तिम आवरण को छिन्न करके गौतम स्वामी ने अपने अन्दर झाँका और उन्हे केवलज्ञान हो गया!

इस ओर महावीर प्रभु का निर्वाण, और इस ओर गौतम प्रभु को केवलज्ञान[3]! घर-घर मे सहस्रो दीपमालाएँ प्रकाशित हो उठी। दीपावली पर्व की महिमा भारतवर्ष की आर्यजनता के प्रत्येक आँगन मे छा गई!!

अहो प्रभु! कभी न देखा और न जाना हुआ, ऐसा सुन्दर मौका कब आएगा?

निष्कर्ष

बीज के जल जाने के बाद वृक्ष के पैदा होने की सम्भावना नही रहती। वैसे ही मोह के जडमूल से नष्ट हो जाने के बाद भववृक्ष के

१. मीरांबाई का साहजिक पद। २—अप्रशस्त मोह की अपेक्षा प्रशस्त-मोह के बाणों के रोकने में खूब शक्ति की जरूरत है। उपशमश्रेणी की आत्मा ११वें गुणस्थान मे आकर एकदम फंदे मे बैठ जाती है। 'अतः चेतो!' यो जैनशास्त्र बारम्बार पुकार कर कहते हैं। भ० महावीर भी सावधान करते हैं। गौतम ने शक्ति प्राप्त की थी, इसलिए वे पार उतर गए। ३—ज्ञान मूल में एक होते हुए भी

ऊगने की सम्भावना नही। 'रागो[1] य दोसो बिय कम्मबीय' यानी राग और द्वेष ये दोनो कर्मों के वीज हैं। और द्वेष का आविर्भाव तो राग के वाद ही हो सकता है। अर्थात् वीतरागता ही परम अमृत है।

मूल मे आत्मा स्वय ज्योति-सुखधाम है। पर जिस प्रकार प्रकाश और स्थल के वीच का अन्तर ज्यो-ज्यो बढता जाता है, त्यो-त्यो उद्योत धीरे-धीरे घटता जाता है और अन्धकार प्रतिभासित होता जाता है, उसी

साधकदशा की उतरती-चढ़ती भूमिकाओ के कारण ५ भेद किये गए हैं:—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान के आभिनिबोधिक, संज्ञा, चिन्ता, स्मृति और मति ये पाँच नाम विभिन्न अपेक्षा से आगमों में बताए गए हैं। मतिज्ञान का अर्थ है—५ ज्ञानेद्रिय और मन से होनेवाला विशेष बोध। श्रुतज्ञान यानी मतिज्ञान के बाद होनेवाला ज्ञान। इसमें शब्द और अर्थ दोनों का सम्बन्ध दिखाई देता है। जैसे जल शब्द सुनकर यह पानी का वाचक है, यह जानना और पानी देखकर उसे 'जल' शब्द का उल्लेख करना। इस प्रकार सत्य के साकार-स्वरूप में महापुरुषों की अद्भुत वाणी में भी श्रुतज्ञान पैदा करने की शक्ति होने से, इस अपेक्षा से उसे भी श्रुत कहा जा सकता है। अवधिज्ञान का अर्थ है—मन व इन्द्रियों की सहायता के बिना ही आत्मा की योग्यता के वल से अधिकाधिक लोकप्रमाण मूर्तद्रव्यों का ज्ञान। मन पर्यायज्ञान यानी दूसरो के मन का ज्ञान और अन्तिम सर्वद्रव्य, सर्वगुण और सर्वपर्यायों का त्रिकालावाधित अखंड ज्ञान का नाम है—केवल ज्ञान। चौथे गुणस्थान के बाद ही अवधिज्ञान सम्भव है, और सातवें गुणस्थान के वाद मनःपर्यायज्ञान, तथैव १३वें गुणस्थान मे केवलज्ञान, केवलज्ञान होने के बाद चार ज्ञान-रूपी अलग-अलग अपेक्षा से पैदा हुई सरणियाँ (पगडण्डियाँ) केवलज्ञान के सिन्धु में लीन हो जाती हैं।

१ उत्तराध्ययन अ० ३२, गा० ७।

प्रकार परमात्म-दशा और ससारीजीवदशा के बीच का अन्तर ज्यो-ज्यों बढता जाता है, त्यो-त्यो प्रभुता के किरण बहुत ही कम दिखाई देने से अन्धकार भासित होता है, जिसे अध्यात्म की भाषा मे 'अज्ञान' कहते हैं। इसका जन्म मोह से होता है। मोह के नष्ट होने पर ही यह नष्ट होता है। मोहजन्य सस्कारो को जैन परिभाषा मे आसक्तिजन्य कर्म-वर्गणा (वलगणा) कहते है। इसलिए ऐसी कर्मवर्गणा से आत्मा की सहज नैष्कर्म्यदशा के बदले कर्मव्यासग बढ जाता है, यानी पहले भावकर्म चिपकते है और भावकर्म के कारण द्रव्यकर्म भी आकर चिपक जाते है।

अज्ञान और मोह के आत्यन्तिक अभाव के बाद समता-वीतरागता-की पराकाष्ठा पर पहुँचा जाता है और अव्याबाध केवलज्ञान सर्वाङ्गरूप से चमक उठता है। उसी प्रकार स्वय ज्योति-सुखधाम निजस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। और तभी '**निजपद जिनपद एकता, भेदभाव नहि कांई**' यह उक्ति सार्थक होती है।

—×—

[१५]

प्रास्ताविक

जगत् के प्रत्येक दर्शन, मत, पथ, वाद या धर्म को एक या दूसरे प्रकार से पुनर्जन्म का स्वीकार करना ही पडा है। परन्तु पुनर्जन्म के प्रतिपादन के लिए जैनागमो मे जो दलीलें मिलती है वे बिलकुल निराले ढग की हैं। सशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि की कसौटी पर वे खरी उतरती हैं, इसका कारण जैनागमो मे सर्वत्र प्रतिबिम्बित हुआ कर्मवाद है[1]।

सृष्टि के कर्ता या प्रेरक रूप किसी ईश्वर का इन्कार करते हुए भी, सादी भाषा मे कहे तो ईश्वर को संसारव्यवस्था के प्रपच मे या ससार-लीला मे न पडने देते हुए भी आस्तिकता और पुरुषार्थ इन दोनो अंगो को जैनधर्म का कर्मवाद समान न्याय दिला सका है।

१. राजपद्य, पृ०, ११६।

कर्मवाद यानी क्रिया करना—प्रवृत्ति करना—नही, अपितु कर्म[1] यानी चैतन्य के प्रकाशरूप भावमन के साथ जुडा हुआ—पौद्गलिक पिंड—जड़ गोलक—शरीर माना जाता है। यह सूक्ष्मशरीर अनन्त सूक्ष्म[2] परमाणुओ का बना हुआ है और उसे इसी कारण कार्माण शरीर कहा जाता है तथा इसी के दूसरे प्रकार को तैजस शरीर कहा जाता है। इस सूक्ष्मशरीर द्वारा ही स्थूलशरीर की रचना होती है।

कर्म अपने-आपमे तो जड हैं परन्तु भावमन के साथ सम्बद्ध होने के कारण जीव मे रागद्वेषवश कर्मपुद्गल स्वत. आश्रय पाते हैं। जैसे जहर मे मारने की शक्ति का गुण होने से—उसे ग्रहण कर लेने पर तो इच्छा से या अनिच्छा से भी उसका प्रतिरोधक बल न मिले तो—वह अपना प्रभाव स्वयमेव दिखलाता है, वैसे ही कर्म भी अपना सासारिक प्रभाव आत्मा पर डालता है। और वे सूक्ष्मकर्म ससारी जीव की क्रियाओ द्वारा बदलते-बदलते अन्तिम (मृत्यु के) समय मे जिस प्रकार के कर्मों की बहुलता रहती है, उसी प्रकार की योनि मे जीव को धकेल देते हैं, यानी सजातीय वायुमण्डल के अनुसार उन-उन ऊँच या नीच योनियो मे जीव को खीच ले जाते हैं, या जीव अपनी आसक्ति के अनुसार उस-उस योनि मे खिचकर जाता है। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर की घटमाला चलती है।...

यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि कर्म मूल मे जडस्वरूप है और आत्मा मूल मे चेतनस्वरूप है तो इन दोनो का सम्बन्ध कैसे सगत है? इसका उत्तर तो पहले दिया जा चुका है। जीव की अपनी ही कामना से यह

---

१. कर्म आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। सबसे प्रधान कर्म—कर्मों का राजा—मोहनीय कर्म है। इसका विस्तार अन्यत्र किया गया है। विशेष वर्णन के लिए देखो उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३।

२. वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि इस (पुद्गल) के धर्म होने से ही वे इसे अच्छे लगते हैं और उनमें इसका खिचाव (आकर्षण) होता है।

सम्बन्ध बाँधा जाता है और जहाँ तक सूक्ष्मरूप से भी कामना मौजूद रहती है, वहाँ तक यह टिकता है। तो फिर कामना के छूटते ही यह (जीव-कर्म का) सम्बन्ध छूटना भी चाहिए न! इसी बात को प्रगट करने के लिए पद्यकार कहते हैं —

चार कर्म घनघाती जे व्यवच्छेद ज्यां,
भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जो ॥

अपूर्व···(१५)

अर्थ—(प्रभुता के गाढ़ आलिंगन से वंचित रखने वाले) चार घनघाती कर्मों से जहाँ छुटकारा मिल जाता है, तथा संसार के बीज का जहाँ सदा के लिए विनाश हो जाता है। ऐसा होने पर भी जहाँ सर्व-भावों का ज्ञान और दर्शन शुद्धि के साथ अविच्छिन्नरूप से रहता है;

---

१ क्षण-क्षण मे बदलकर कर्म किस प्रकार प्रकृति धारण करते हैं? इसके किस प्रकार के वर्गीकृत भेद हो जाते हैं? ये कितने समय तक टिकते हैं? इनका क्षेत्रविस्तार कितना होता है? और जीव पर कैसे भावो का असर होता है? इतना विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह विषय इतना सूक्ष्म है कि इसे यहाँ लिपिबद्ध करने मे ग्रंथ-विस्तार हो जाय। विशिष्ट जिज्ञासुओं को जैनाचार्यों द्वारा कर्म पर लिखित स्वतन्त्र ग्रन्थ देखने चाहिए।

२ यहाँ जिज्ञासुओ की आंशिक तृप्ति के लिए 'आनन्दघन बहोत्तरी' पर लिखे हुए कर्म-सम्बन्धी विवेचन में से प्रसंगोपात्त कुछ विवेचन दिया जा रहा है—'संसार की ओर ले जाने वाली जो कर्मावली होती है, उसे जैनदर्शन मे कर्मप्रकृति कहा गया है।' कर्म आवरण-रूप से तो एक ही है किन्तु इसकी विभिन्न शक्तियो का वर्गीकरण (अलग-अलग प्रकार के स्वभाव के अनुसार) करने से मूल भेद ८ और उत्तर भेद १७६ होते हैं। इसका नकशा इस प्रकार है:—

ऐसी अनन्त वीर्य तथा अनन्त प्रकाश से देदीप्यमान प्रभुता हे प्रभो ! मैं कब प्राप्त करूँगा ?

कर्म का नाम	प्रकृतिसंख्या	प्रकृतिनाम
१–ज्ञानावरणीय···	५–	मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनः पर्यायज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।
२–दर्शनावरणीय···	९–	चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धि (थिणद्धि)*।
३–वेदनीय···	१६–	मुख्य दो भेद सातावेदनीय, असातावेदनीय, इन्ही के विशेष १६ भेद हुए।
४–मोहनीय···	२८–	मुख्य दो भेद—दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, दोनो के अवान्तर भेद ३+१६+९=२८ भेद।
५–आयुष्य···	४–	नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।
६–नाम···	९३–	शुभनाम और अशुभनाम, इन दो मुख्य भेदो के अवान्तर भेद ९३ होते हैं।
७–गोत्र	१६–	उच्चगोत्र और नीचगोत्र इन दो के ८ प्रकार का मद करने से नीचगोत्र और न करने से उच्चगोत्र बँधता है, इसलिए ८+८=१६ भेद होते हैं।
८–अन्तराय···	५–	दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

विशेष विस्तार के लिए आगे की टिप्पणी देखो।

* इस निद्रा मे बहुत शक्ति प्रकट होती है। जागृत अवस्था में चिन्तित या दूसरा असाधारण काम करते हुए भी इस निद्रावाले को कुछ भी

विवेचन—कर्म के आठ भेदो के बारे मे हम सक्षेप मे कह आए हैं। यहाँ इन आठो मे से चार कर्म तो एक साथ ही छूट जाते हैं। कारण यह कि मोह के छूटते ही मोहनीय कर्म छूट जाता है। और वीतरागता की पराकाष्ठा सिद्ध हो जाती है, इसलिए अपने-आप आत्मा और परमात्मा के बीच का 'अन्तराय' दूर हो जाता है। और इतना होने के बाद सम्पुटित (आच्छादित) परम प्रकाशनिधि अनावृत हो जाता है। सारांश यह है कि मोहनीय, अन्तराय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये चार कर्म नष्ट हो जाते हैं। इन चारो कर्मों को घाती या घनघाती तो इसलिए कहा जाता है कि ये आत्मा के सहज आनन्दघनस्वरूप के विघातक हैं।

कर्म जिस प्रकार से, जिस प्रदेश मे, जैसे रस से और जैसे क्षेत्र मे, जैसी स्थिति मे बँधते हैं, उसी प्रकार से, वैसे प्रदेश मे, वैसे रस से और वैसे ही क्षेत्र मे, वैसी स्थिति मे ही छूटते है। इनसे छूटने का और कोई भी उपाय नही है। कर्म का कानून सृष्टिसनातन अटल कानून है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग (मन, वचन, काया का आत्मा के साथ सयोग) से और स्थितिबन्ध तथा रसबन्ध कषाय (क्रोधादि) से होते हैं।

इस बात को समझने के लिए जैनाचार्य, अपने ग्रन्थो मे भ० महावीर की साधना-श्रेणि के प्रसग प्रस्तुत करते हैं।

भ० महावीर ने पूर्व (किसी) जन्म मे एक बार अपने पास रहनेवाले अनुचर पर क्रुद्ध होकर उसके कान मे गर्मागर्म सीसा (द्रवित) डलवा दिया था। इसके फलस्वरूप महावीर के भव मे इनके कानो मे खीले ठुके थे। फिर भी खीला ठोकने वाले पर जब नया वैर नही बाँधा, तब वह वैर (भावजनित कर्म) निर्मूल हो गया।

यहाँ एक शका पैदा होती है कि यदि इसी तरह एक-एक व्यक्ति का

भान नहीं रहता और वर्षों तक सोया रहता है। कुम्भकर्ण का ऐतिहासिक तथा अमेरिकन युवती मेग्वीर प्रोटेसिया का ताजा उदाहरण है।

चढा हुआ कर्मरूपी कर्ज, इसी तरह से फिर भोगे बिना न चुकता (छूटता) हो तो जितने भव मे, जितने व्यक्तियो के साथ, जितने सम्बन्धों (प्रसगो) मे, जो कर्म बँधा हो, उसका कर्ज भरपाई करने के लिए भी उतने ही दूसरे जन्म, उतने ही व्यक्ति और उतने ही सम्बन्ध (प्रसग) अनिवार्य समझे जाते हो, तब तो भव का पार ही कैसे आ सकता है ? यानी जन्म-मरण के चक्र का अन्त आ ही कैसे सकता है ? (क्योकि जीव ने इस (वर्तमान) भव से पूर्व अनन्त भव किए है।)

इस शका का समाधान करते हुए जैनागम कहते हैं कि व्यक्ति, सम्बन्ध या जन्मो की सख्या का बन्धन गौण है, मुख्य नही। 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' 'कृत कर्मों का फल भोगे बिना कोई छुटकारा नही,' यह सिद्धान्त मुख्य है। कर्म का बीज मौजूद हो, वहाँ तक मुक्ति (छुटकारा) नही हो सकती, यही इसका मूल आशय है। अगर कर्म के बीज जडमूल से जलाने जितनी शक्ति (उदीरणा, तपस्या, दृढ आत्म-स्वभावरमणता आदि द्वारा) केन्द्रित हो गई हो तो एक भव मे भी वे जल सकते हैं। कहा भी है—

'कोटिवर्षनु' स्वप्न पण जागृत थतां समाय,
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय।'

आ० ११४, श्रीमद् राजचन्द्र

एक भव मे ही चाहे थोडे-से ऐसे मजबूत प्रसग मिल जाएँ, तो वे साधक की सांगोपाग कसौटी कर लेते है। सोने की तरह ही, नही, कमल की तरह भी। इसीलिए क्रमश. दोहरी शुद्धिपूर्वक इस भूमिका तक आ पहुँचे हुए साधक के लिए ही पद्यकार कहते हैं :

'भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो'

भवबीज का पूर्णतया नाश शक्य है। साराश यह कि इस प्रकार ससार के बीज का जडमूल से सदा के लिए विनाश होना चाहिए।···

इस भूमण्डल पर कोई भी घटना अहेतुकी या आकस्मिक[1] नही

---

१ 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'—गीता अ० २।१६

होती। उसके पीछे कार्य-कारण की परम्परा जुडी हुई है। यह दृष्टि यथार्थरूप से हृदयगम हो जाय, पूरी तरह से समझ मे आ जाय तो (जैसे यथार्थज्ञान के अभाव मे जीव कर्म[1] को जन्म देता है, और बढाता है, उसी

---

१. कर्मों का मुख्य स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) ज्ञानावरणीय—आत्मा के ज्ञानस्वरूप—सत्—को सीधे आच्छादित करने (ढकने) वाली शक्ति।

(२) दर्शनावरणीय—आत्मा के अनुभवस्वरूप—चित् चैतन्य—को सीधे आच्छादित करने वाली शक्ति।

(३) वेदनीय—आत्मा के सहजानन्दस्वरूप को आच्छादित करने वाली शक्ति। इस आवरण मे मनोमय कोष ही मुख्य रूप से काम करता है। इसीलिए नित्य आनन्दमयस्वरूप आत्मा को भी सुख या दु.ख का भावावेश पैदा होता है, अनुकूल या प्रतिकूल वेदन होता है। (वेदनीय कर्म के बारे मे श्रीमद्जी का ऐसा अभिप्राय है कि (दूसरे उदयप्राप्त कर्मों का आत्मा चाहे जिस तरह से समाधान कर सकता है, पर वेदनीय कर्म मे वैसा नहीं हो सकता। यह कर्म तो आत्मप्रदेश को वेदन (महसूस) करना ही पड़ता है। इसे वेदन करते (महसूस करते या भोगते) समय कष्टो का अनुभव होता है, उस समय अगर भेदज्ञान पूर्णत न हुआ हो तो आत्मा देहाकार मे परिणत होती है और शान्ति-भंग होता है।)

(४) मोहनीय—आत्मा के इस मूल सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत कर देने और जीव को संसाराभिमुख-प्रकृतिवश-बना देने की मूल करामात जिस शक्ति के हाथ मे है, उसका नाम मोहनीय है। इसी कारण चैतन्य-विकास या चैतन्य-पतन मुख्यतः मोहनीय कर्म के क्षयाक्षय पर ही निर्भर हैं।

(५) आयुष्य—जन्म और मरण सम्पन्न कराके भ्रमण कराने की कला भले मुख्यत. मोहनीय कर्म के हाथ में हो, किन्तु इसे

प्रकार सद्ज्ञान के सद्भाव से) कर्म को कर्म से दवाया भी जा चुकता

अमल मे लाने (कार्यान्वित करने), सकाम या अकाम मृत्यु सम्पन्न कराने, पूर्णकाल या अल्पकाल तक शरीर में जीवन धारण कर रखने की शक्ति इस आवरण के हाथ में है। जो साधक उत्तम कोटि के होते हैं, उनका जीवन तो यह पूर्णतः टिकाए रखता है। परन्तु दूसरे अनेको के हाथ मे यह शक्ति देकर, (इसे पता लग जाय कि वह अपात्र के हाथ मे चली गई है तो) उसे वापिस खींच लेता है। कितनो को माता के गर्भ में रखते ही या रहते ही या जन्मते ही उनकी जीवन-धारणशक्ति छीन लेता है। कइयों को बाल्यावस्था मे, कइयो को जवानी मे और कितनो को वृद्धावस्था में अपने हाथ में पकड़ता है। इसे लोग काल, मृत्यु, मरण, मौत आदि नामो से पुकारते हैं। यह काल कितनो को बाघ जैसा भयंकर लगता है, सशक्त जनों को यह हाथ का खिलौना मालूम होता है। यह कितनो को हँसाता है, कितनों को रुलाता है। मगर सशक्तो को इसने कभी रुलाया नहीं है। यही आवरण (कर्म) सम्पूर्णज्ञान होने के बाद उस सिद्धसाधक को जगत् में टिकाए रखकर, जगत् को पावन करने वाले कल्याणसूत्र बरसाने की कृपा में निमित्त बनता है, यह याद रखना चाहिए।

(६) नामकर्म—शरीर को लेकर जो व्यक्तिभिन्नता को टिकाए रखती है, प्रगट करती है, वह शक्ति। यह आवरण चाहे नाम मात्र का ही क्यो न हो, आखिर आवरण तो है ही। जहाँ तक केवल (सम्पूर्ण) ज्ञान न हो जाय, वहाँ तक तो अभिमान (अहं) को टिकाए रखने में इस आवरण का हिस्सा कम नहीं है। पर जब सम्पूर्णज्ञान होकर उच्च भूमिका में आत्मा स्थित होती है, तब यह आवरण अपना स्थान (कार्य) बदल कर लोकोपकारकता मे अपना अमूल्य भाग अदा करता है।

है और टाला (आते हुए को रोका) भी जा सकता है। गीता की भाषा

तीर्थंकर की स्वरूपस्थिति टिका कर संघ-रचना होकर साधक को अनुभव की पुस्तकों से महामूल्य गुप्तज्ञान की भेंट उनसे मिलती है, वह इस शक्ति को ही आभारी है।

(७) गोत्र—प्राणिमात्र में 'मैं दूसरो से उच्च हूँ, महान् हूँ,' इस प्रकार की एक कामना गुप्तरूप में रहकर सृष्टि की अभिन्नता के सवादन मे मस्त चेतन को विसंवादिता-द्वैतता-भिन्नता की तरफ घसीट ले जाती है। फिर चाहे यह (कामना) व्यवस्था, नीति, धर्म, दया, दान, प्रेम, उपकार-जैसे आकर्षक नामों की ओट मे हो, इसी आवरण को गोत्रकर्म कहा जाता है। जब मोहरूपी स्वयं भूरमण-जैसा महासागर तैर कर साधक पार उतरता है, तब यही आवरण बाधक के बदले साधक और सहायक बनता है। इस पर से नई बात यह समझने को मिलती है कि सभी बन्धनसापेक्ष हैं। अपेक्षा हट जाने के बाद बन्धन भी उलटे मुक्ति के कारण यानी साधन बन जाते हैं। जैनदृष्टि से देखें तो केवलज्ञान हो जाने पर आत्मा को मुक्ति या सिद्धि के शिखर पर रज्जूवत् जल कर भस्म हुए उक्त चार कर्म नहीं पहुँचाते तो और कौन पहुँचाता है? आत्मा को जो ऊर्द्ध्वगति की रफ्तार प्राप्त होती है, वह अपने पूर्व-शरीरगत प्रवाह में से ही होती है।

(८) अन्तराय—इच्छाशक्ति, करणप्राप्ति, उसका उपयोग, और पुरुषार्थ-शक्ति को सीधे आवृत, कुण्ठित या स्थगित करनेवाली आवरणशक्ति का नाम अन्तराय है। यह आवरण भी मोह-नीय के आवरण के पूर्ण क्षीण होने के साथ ही क्षीण हो जाता है। ज्वलन्त प्रताप, अप्रतिम प्रतिभा, विश्व को प्रभावित कर सकने वाला दिव्य तेज और क्षुद्र जगत् की दृष्टि से मूल्यवान् अणिमा-महिमा-जैसी महासिद्धियाँ, लब्धियाँ, चमत्कार या

मे इसी का नाम 'नियत कर्म' है। ऐसी क्रिया मे आसक्ति नही हो सकती। जहाँ आसक्ति नही होती, वहाँ कर्म[1] करते हुए भी बन्धन[2] नही होता। यही नैष्कर्म्यदशा प्राप्त करने का एक और बेजोड़[3] मार्ग है। इसी क्रम से ससार का बीज जल सकता है, दूसरा कोई भी क्रम नही है, यह हम अब तक के विवेचन मे विस्तार से देख चुके। अब आगे का क्रम देखिए ·

> अतिशय से सब इस कोटि पर पहुँचे हुए साधक के चरण चूमते हैं। परन्तु उसे खुद को इनकी लेशमात्र भी परवाह नहीं होती और उसके पास ऐसी सिद्धियाँ होते हुए भी उनका जरा भी (अभिमानमय) असर उस पर नहीं होता। क्योंकि इस भूमिका में होने वाला दिव्यानन्द उसे स्व-स्वरूप में ही मस्त बनाकर झूमाता है। मानो तीनों भुवन का साम्राज्य उसके चरणों में आ गिरा हो और सारी सृष्टि की लीला जिसमें से पैदा होती है, उसकी सारी कुञ्जी अपने हाथ में आ गई हो, ऐसा वेदन होने लगता है। वेदान्तदृष्टि से आनन्दमय कोष की यह सम्पूर्ण भूमिका है; मगर जैनदृष्टि से अभी यह अपूर्ण है। क्योंकि अवतारवाद वाले सगुण ब्रह्म या अद्वैतस्वरूप निर्गुण ब्रह्म, इन दोनों स्थितियो को पार करके अखिल विश्व के सर्वपदार्थों में अपना ज्ञान कालादि के आवरण से रहित और त्रिकालाबाधित व्यापक रहे, इस उच्च और अडोल (निष्कम्प) भूमिका पर—आत्मा को उर्द्ध्व पहुँचाने के बाद ही वह (भूमिका) अपनी साधना को सिद्धि हासिल करके (जैनदृष्टि से) ही दम लेती है, उससे पहले नहीं···।

१. नियतं सङ्गरहितम्'—गीता अ० १८।२२।

२ 'जयं चरे···पावकम्मं न बंधइ'—दर्शवकालिक अ० ४ अथवा 'जे आसवा ते परिसवा'—आचारांग सूत्र।

३. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—ईशावास्योपनिषद-१।

'सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता'

केवलज्ञान होने के बाद समस्त पर्यायसहित समस्त द्रव्यो का अविच्छिन्न रूप से ज्ञान इस भूमिका से ही शुरू होता है और वह स्थायी[४] रहता है। पद्य मे जो **'सर्वभाव'** शब्द है, उसमे गूढ रहस्य निहित है। जैसे वैज्ञानिक सिर्फ गुरुत्वाकर्षण के एक ही सिद्धान्त की शोध मे समस्त विश्व को (शृखलाबद्ध) जुडा हुआ देखता है, वैसे ही ऐसा पुरुष आत्म-शोध की परिपूर्णता में समस्त विश्व को प्रतिबिम्बित हुआ देखता है। इसी दृष्टि से आचाराग सूत्र कहता है—**'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'**—३।४।२ (जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब जान लिया)। जो नियम एक[५] के लिए लागू होता है, वही सबके लिए लागू होता है। जो नियम आत्मा को लागू होता है, वही नियम सारे विश्व के लिए अवश्य लागू होता है, परन्तु जो नियम विश्व को लागू होता है, वह नियम आत्मा के लिए होता है और नही भी होता, इस प्रकार की व्याप्ति समझनी चाहिए।

---

४. हम पहले मतिज्ञान-श्रुतज्ञान का लक्षण बता चुके हैं। इन दोनो मे पर्यायों का सम्पूर्ण बोध शक्य नहीं है, क्योंकि इन दोनों में मुख्यत. इन्द्रियो और मन की सहायता होती है और इन्द्रियों तथा मन का स्वभाव खण्डात्मक होने से अखण्डरूप से वे द्रव्यों का साक्षात्कार नहीं करा सकतीं। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान क्रमशः उच्च होते हुए भी सीमित (द्रव्यक्षेत्र-काल-भाव का मर्यादित) ज्ञान हैं। इसकी विस्तृत समालोचना के लिए देखो श्री आचाराग सूत्र, पृ० १०१ से १०४।

५. 'स्थूल विज्ञान भी अपनी सभी शाखाओ में जो एक बड़ी बात बताता है, वह है नियम की सर्वव्यापकता। खगोलशास्त्री चाहे जहाँ उसे ढूँढ सकता है, फिर चाहे वह सेव (नासपाती) के गिरने में हो, या ग्रहो की सूर्यप्रदक्षिणा में हो! वह तो एक ही नियम का उसमें कार्यानुसरण देखता है।' —हेनरी जॉर्ज

इस दृष्टि से देखें तो स्थूल वैज्ञानिक नियमो की शोध आत्मविज्ञान मे गर्भित हो जाती है, परन्तु आत्मविज्ञान की शोध स्थूल वैज्ञानिक नियमो मे अन्तर्गत नही होती। इसका कारण बताने के लिए यहा 'सह शुद्धता' पद जोडा गया है। स्थूल वैज्ञानिक नियमो की शोध तो आत्मनिर्मलतारहित साधक भी कर सकता है, मगर आत्मविज्ञान तो शुद्ध हुए विना प्राप्त ही नही हो सकता। आन्तरिक विशुद्धि तो इसके लिए पहली शर्त है और वह अन्त तक रहती है। आत्मविज्ञान की दूसरी विशेषता यह है कि वहाँ 'जानना और अनुभव करना' ये दोनो चीजे अलग-अलग नही हैं, अपितु एकरूप हैं। इसीलिए ऐसा त्रिकालदर्शी परम-पुरुष विश्व-हृदय का ज्ञान और दर्शन एक साथ (युगपत्) प्राप्त करता है। वस्तुत. यहाँ काल के भूत, भविष्य और वर्तमान जैसे भेद हैं ही नही; क्योकि ये भेद भी आखिर तो सापेक्ष है। इनका क्षेत्र भी सीमित है, जबकि यह दशा तो निरपेक्ष है और इसका क्षेत्र भी असीम (अपरिमित) है। इसलिए यहाँ कालद्रव्य खण्डित नही, अखण्ड है, अविच्छिन्नधारा प्रवाह है।

यहाँ यह शका नही होनी चाहिए कि यदि ऐसा हो तो फिर द्रव्य-मात्र सत् (कालत्रये तिष्ठतीति सत्) हैं और सत् का लक्षण जैनदर्शन के अनुसार उत्पाद (उत्पत्ति) व्यय (लय) ध्रौव्य (स्थिति) वाला है, यह सगति

---

१. देखो भगवतीसूत्र शतक २, उद्दे. ६ की टिप्पणी; नदीसूत्र।

२ 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं ब्रह्म' आत्मज्ञान (परिपूर्ण) में क्षेत्र और काल के खण्ड नहीं होते।

३. उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम्'—तत्त्वार्थ सूत्र।

४ सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, और सादृश्य, यों चार प्रकार की मुक्ति दार्शनिक परिभाषा में बताई गई है, उसमे की सर्वोत्तम मुक्ति बताते हैं —

'कर्त्ता, भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्ता त्याय॥'

(—आत्मसिद्धि पद १२१,—श्रीमद्‌जी)

कैसे बैठेगी ? क्योकि मान लो किसी व्यक्ति ने भाव को 'जाना' और 'देखा', अब इस वाक्य प्रयोग मे 'जाना' यह प्रयोग जिस समय मे हुआ, वहाँ उत्पाद हुआ और 'देखा', यह प्रयोग जिस समय को लागू हुआ, वहाँ व्यय हुआ पर इन दोनो के बीच जो ज्ञानमय उपयोग रहा वह स्थिर (ध्रौव्य) है ही। इस प्रकार पूर्वज्ञात पर्याय के भासन (प्रतीति) का व्यय, अभिनवज्ञेय पर्याय मे भासन (प्रतीति) का उत्पाद तथा ज्ञानत्व (इन दोनो मे है, इसलिए) का ध्रुवत्व, ये तीनो यहाँ घटित हो गए। पर इतना जरूर याद रखना चाहिए कि यहाँ 'जानना' और 'देखना' ये दोनों समय-व्यवहार की दृष्टि से अलग-अलग लेने पडते हैं, वस्तुत. ये भिन्न-भिन्न नही हैं। अपितु एक ही वस्तु की दो बाजू है, दो पहलू है और त्रिकालज्ञानी इन दोनो को एक साथ जानता-देखता है। यहाँ जानने-देखने की क्रिया इन्द्रियजय नही होती, इसलिए समय व क्षेत्र का व्यवहार भी बाधित नही है। मतलब यह कि जानने-देखने का अर्थ यहाँ भावो को पहिचानना है, आत्मसात् करना—आत्मगम करना—भोगना—उपयोग करना है, यह बताने के लिए ही पद्यकार कहते है—

'कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जो।'

यहाँ कृतकृत्यता, प्रभुता, अनन्तवीर्य और अनन्तप्रकाश होता है। अर्थात् अब साधक को कुछ करना-धरना नही होता—करने को कुछ भी शेष नही रहता। क्योकि यहाँ प्रभु—सम्पूर्ण परमात्मस्वरूप—के साथ एकता का अनुभव किया जाता है। वीर्य और प्रकाश दोनो अनन्तता धारण कर लेते हैं। श्री अरविन्द योगी के शब्दो मे कहे तो—'यहाँ पूर्णता के मूल छहो तत्त्व प्रगट हो जाते हैं—पूर्ण समता, पूर्णशक्ति, पूर्ण विज्ञान, पूर्ण कार्य, पूर्ण भक्ति और पूर्णानन्द।'…

अहो परमात्मन् ! ऐसी अपूर्व अवस्था कब आएगी ?…

निष्कर्ष

भावकर्म का कर्ता जीव है। जो जिसका कर्ता होता है, वही उसका

भोक्ता होता है। द्रव्यकर्म का कर्त्ता भावकर्म है। द्रव्यकर्म से ससार-रति जागृत होती है आत्मज्ञान और ससाररति इन दोनो के परस्पर नही बनता क्योकि ये परस्पर विरोधी हैं। आत्मज्ञान भाव को ही स्पर्श करता है। यद्यपि भाव के बिना द्रव्य की हस्ती नही है। परन्तु भाव-सवेदन की सृष्टि मे जो रस होता है, उसमें कभी विरसता की सभावना नही होती, जो खूबसूरती (सुन्दरता) होती है, उसमे बदसूरती (असुन्दरता) कभी सभवित नही, जो प्रकाश होता है, उसमे तिमिर का प्रवेश कभी नही हो सकता, जो वीर्य होता है उसमे विकार का स्पर्श कदापि नही हो सकता। इस प्रकार द्रव्यकर्म से रहित भाव टिकता नही, अर्थात् वह आत्मा, भावकर्म से दूर होकर आखिरकार भावकर्त्ता के बदले भाव-ज्ञायक बनता है।

संसाररति की दुनिया मे इससे बिलकुल उलटा है, इसीलिए संसार-रति का बीज जलाकर कृतकृत्य होना जरूरी है।

—×—

[१६]

प्रास्ताविक

अब पद्य-रचयिता की कल्पना ठेठ तेरहवें गुणस्थान तक आ पहुँची है। पिछले पद्य और इस पद्य दोनो मे यही भूमिका ध्वनित होती है। काल (स्थिति) की दृष्टि से देखें तो १४ गुणस्थानो मे पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा और तेरहवाँ, ये ५ गुणस्थान ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योकि ये ही दीर्घ-स्थिति (चिरकाल तक टिकने) वाले हैं। बाकी के सब अन्तर्मुहूर्त[1] से अधिक काल की स्थिति (टिकने) वाले नही है। परन्तु इन पाँचो मे भी यथार्थरूप से मूल्यवान तो तेरहवाँ गुणस्थान है। इस बारे मे हम पन्द्रहवे पद्य मे जान चुके हैं, अब सोलहवे पद्य मे भी विशेष जानकारी होगी।

---

१. दो घड़ी (यानी १ मुहूर्त—४८ मिनट) से भी कम समय (अर्थात् इसके अन्दर-अन्दर) को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
वली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुप आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुप पूर्णे मटी ए दैहिकपात्र जो ॥ अपूर्व...(१६)

अर्थ—जिस भूमिका में बाकी के वेदनीय आदि—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य—४ कर्म भी जली हुई रस्सी की तरह (जलकर राख हो जाने पर भी उसकी आकृति बनी रहती है उसी तरह) सिर्फ आकाररूप रहते हैं और उसी भवशरीर का जितना आयुष्य हो, उतना पूरा करने के लिए ही उतने काल तक वह टिका रहता है, इसलिए आयुष्य पूर्ण होते ही शीघ्र पुनः शरीर प्राप्त करने की योग्यता मिट जाती है। अर्थात् अपुनर्जन्म दशा स्वयंसिद्ध हो जाती है।...

हे नाथ ! ऐसी उत्कृष्ट भूमिका पर मैं कब पहुँचूंगा ?...

विवेचन—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार आत्मस्वरूपघातक कर्मों का बँध छूट जाने के बाद वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, ये चार कर्म बाकी रहते है।

यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि मूल मे कर्म तो एकरूप है, फिर भी अलग-अलग कार्यप्रदेश की दृष्टि से इसके मुख्य ८ भेद और अवान्तर १७६ भेद किये गये, यह तो समझ मे आता है, परन्तु जैसे सभी कर्मों के अधिनायक (तानाशाह) मोहनीय कर्म के हटने के बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय हट जाते हैं, वैसे ही वेदनीयादि ४ कर्म क्यो नही हटे ? इसका उत्तर यह है कि जैसे हाथ पर एकदम जोर से जकडकर बांधे हुए रस्से के खोल देने पर भी रक्त भरता नही वहाँ तक उसके निशान तो अवश्य रहते हैं, वैसे ही मोहनीय कर्म के मूल-बंधन के छूट जाने पर उसके निशान बने रहे, यह स्वाभाविक है। लेकिन जैसे रस्सा खुल जाने पर पीड़ा नही होती, वैसे ही मोहनीय का वं छूटने के बाद अब आत्मा पीडित नही होता। इतना ही नही, रस्से निशानो के दाग भी अन्त मे मिट ही जाते हैं, वैसे ही

भोक्ता होता है। द्रव्यकर्म का कर्त्ता भावकर्म है। । इसीलिए पद्यकार [illegible] जागृत होती है आत्मज्ञान और ससाररति इन दो [illegible] ये परस्पर विरोधी हैं। आत्मज्ञान [illegible]

यानी जैसे [illegible] के विना द्रव्य की हस्ती न[illegible] पर जहाँ तक उसे हवा न लगे और वह उडे न[illegible] होता है, उसमे क[illegible] करके उसका आकार न वदले, वहाँ तक वह मूल अ[illegible] होती है, [illegible]म रहती है, वैसे ये कर्म भी जहाँ तक देहयोग विल्कुल निर्मूल न [illegible] वहाँ तक कायम रहते है।

यहाँ एक दूसरी शका उपस्थित होती है कि जैसे मोहनीय के जल जाने पर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय और ये तीनो कर्म भी; वेदनीयादि चार कर्म जली हुई रस्सी के आकार की तरह आकार-रूप मे रहे, वैसे क्यो न रहे ? इसका समाधान १५ वें पद्य की सक्षिप्त टिप्पणी के पढ जाने पर हो जायगा, क्योंकि इन तीनो का आत्मा के साथ जितना सीधा सम्वन्ध है, उतना इन चार (वेदनीयादि) का नही है। इतना ही नही, इन चारो का सम्वन्ध मुख्यत देह के साथ और परम्परा से जीव के साथ है। जैसे रस्सी के जल जाने पर उसकी राख कभी भी वन्धन मे वाँध नही सकती, उलटे, दूसरी तरह से एकाध नए ढग से उपयोग मे आती है, वैसे ही वेदनीय कर्म, जो पहले सुख-दु.ख का भावावेश (feeling) वारम्वार पैदा करता था, वह अब सिर्फ समभाव का वेदन कराता है और नाम व गोत्र जो पहले देहभान और देहाभिमान का पोषण करने मे निमित्त वनते थे, वे अव आत्मभानकारक और प्रभुतादर्शक वनते हैं। जो आयुष्य कर्म पहले देहमूर्च्छावर्द्धक वनता था, वही अव केवल लोकोपकारक वनकर रहता है। इसी वात को सूचित करने के लिए पद्यकार कहते हैं :—

'ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे'

इसीलिए देहरूपी यह अन्तिम वस्त्र फट न जाय (पूरा न हो) वहाँ तक ही ये चारो कर्म रहते हैं। वाद मे तो कवीर साहव के कथनानुसार 'ज्यो-की-त्यो धर दीनी चदरिया', वाली स्थिति हो जाती है और शरीर

अपने-आप छूट जाता है। इसी स्थिति को योगीश्वर आनन्दघनजी अतीव सुन्दर शब्दों मे स्पष्टतया प्रस्तुत करते है :—

"पूनमशशी सम चेतन जाणीए चन्दातप सम भाण।
बादलभर जिम दलथिति आणीए, प्रकृति अनावृत जाण॥"

पहले बताया वैसे चेतन तो वहाँ पूर्णेन्दुसम प्रकाशमान रहता है और शीतल विज्ञानमय किरण फेंकता रहता है।...

"देह छतां जेनी दशा, वर्ते देहातीत",

(श्रीमद् की प्रकाशित पुस्तक मे से आ० १४२)

'देह[1] छतांय विदेहनी अद्भुत भूमिकानो आंक रे'

(—'साधना पोथी' मे से)

ऐसी दशा होने से वहाँ जो कुछ क्रिया[2] होती है, वह अनासक्तभाव (सहजरूप) से होती है। जैसे मिट्टी का पिंड भीत पर फेंकने से वहाँ नही चिपकता, अपितु वापिस गिर जाता है, वैसे ही उस प्रकार का कर्म जीव के चिपके बिना ही खिर जाता है। इन कर्मपुद्गलप्रदेशो की स्थिति भरे हुए बादलो जैसी यानी तुरन्त खिर जायँ ऐसी, होने से, उनके द्वारा आत्मा पर कायमी आवरण टिका नही रहता।

चारित्र[3] भी (इस भूमिका मे) यथाख्यात होता है। अर्थात्

---

१ ब्राह्मण (वैदिक) ग्रन्थो में सर्वोत्तम लोकप्रसिद्ध सजीव चित्र—जनक-विदेही के साथ तुलना कीजिए।

२ इस क्रिया को ऐर्यापथिकी क्रिया कहा जाता है। ऐर्यापथिकी क्रिया से पैदा हुआ कर्म पहले क्षण में लगता है, दूसरे क्षण तक टिकता है और तीसरे क्षण छूट जाता है।

३. चारित्र यानी आत्मरमणता अथवा अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति करना चारित्र है। सच्चे ज्ञान के उजाले के बाद इसकी शुरूआत होती है। इसे भूमिका के भेद से ५ भागों मे विभाजित कर दिया गया है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनिक, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसपराय और (५) यथाख्यात चारित्र।

'द्रव्यक्षेत्रप्रतिबन्ध बिन विचरे उदय प्रयोग जो' जिस प्रकार का उदय होता है, तदनुसार किसी भी क्षेत्र या काल के प्रतिबन्ध बगैर वह मस्तदशा मे विचरता है। इसलिए उसके एक ही अमृतमय दृष्टिपात से जगत् निहाल हो जाता है, धन्य हो जाता है, उसकी एक ही आवाज जनता मे अद्भुत चेतना फूंक देती है।

इस तेरहवे गुणस्थान मे स्थित परमपुरुषो मे सामान्य और विशेष दो कोटियाँ होती हैं। तीर्थंकरो को हम विशेष[1] कोटि मे गिनेंगे और बाकी के पुरुषो को सामान्य (केवलियो की) कोटि मे।

सामायिक चारित्र—देशविरति नामक पंचम गुणस्थान में रहता है। छेदोपस्थापनिक चारित्र—स्खलन (भूल) हो जाय तो तुरन्त उसकी मूल से शुद्धि करके पुनः चारित्र स्थापना की तड़फन वाला चारित्र। परिहारविशुद्धि चारित्र—तपविशिष्ट परिहार विशुद्धि यानी तप की भट्टी में वृत्तियो को जलाकर आत्मा को विशुद्ध करने की क्रिया से युक्त चारित्र। ये तीनों चारित्र पाँचवें से नौवें गुणस्थान तक होते हैं। सूक्ष्मसंपराय चारित्र—यह चारित्र सिर्फ दशवें गुणस्थान में होता है। और बाद मे यथाख्यात चारित्र—ठेठ तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

१. जैनागमों में सबसे पहला नमस्कार 'नमो अरिहंताणं (तित्थयराणं) यानी अरिहंतो (अर्हन्तों)—तीर्थंकरों को किया गया है। 'नमो सिद्धाणं' (सिद्धों को नमस्कार) इसकी अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से उच्चकोटि के होते हुए भी, अर्हन्त को नमस्कार पहले (स्थान भी पहले) और सिद्ध को दूसरा स्थान दिया गया है, क्योंकि अर्हन्त-पद को प्रथम स्थान देने का कारण जैनदर्शन यों बताता है कि "आत्मोद्धार और विश्वोद्धार का साहचर्य जिस जीवन मे हो, वह जीवन सर्वांगी और परमपूर्ण है और विश्वप्राणियों का निकट उपकारक है।"

तीर्थंकर विशेष कोटि के इसलिए समझे जाते हैं कि वे स्वयं अकेले (आध्यात्मिक गगन मे) नही उड़ते, अपितु अपनी पाँखों मे सारे जगत्[1] को लेकर उडते हैं। 'विश्वमुक्ति मे आत्ममुक्ति'; उनकी जीवनचर्या का मुद्रालेख होता है। स्थगित हुए या विगडे (विकृत) हुए प्रगतिरथो को वे सच्ची और ठोस गति प्रदान करते हैं। धर्म की नीव डालकर वास्तविक शुद्धि करते हैं और अधर्म के जोर को कमजोर करते है। सूक्ष्म शक्तियो की प्रवलता से राक्षसी व पाशविक बलो को परास्त व पस्त-हिम्मत करके विश्व के समक्ष (चारित्र्य वल का) चमत्कारी आदर्श उपस्थित करते है। उनके शुभ निमित्त से अनेक श्रेयार्थियो के लिए कल्याणकर प्रत्यक्षरूप मोक्षमार्ग का उद्घाटन हो जाता है। वे जीवन-विकास के व्यस्थितक्रम और उस मार्ग पर जाने के साधन वताते हैं। मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे लोकोत्तर क्रान्ति करते हैं, इतना ही नही, अपने पीछे वारसे के रूप मे चेतनाशील तालीमबद्ध (प्रशिक्षित) 'सिद्धिसंघ

---

१. परन्तु ऐसे महापुरुष महासागर के मोती के सदृश विरले ही पैदा होते हैं। जैनागम कहते हैं कि छः आरो (कालचक्र) जैसे निरवधि-काल मे सिर्फ २४ ही तीर्थंकर पैदा होते हैं। और अनन्तभव के भगीरथ परिश्रम और अपारश्रद्धा के बल से इस पद को वे ही साध सकते हैं। तीर्थंकरनामकर्म निश्चित हो जाने के वाद भी शेष रहे हुए शुभाशुभ कर्म के भोगोपभोग के लिए उन्हें नरक या स्वर्गगति में चिरकाल तक रहकर अपने सच्चे ज्ञान और समता की परीक्षा देनी पड़ती है। ऐसी अनेक अग्निपरीक्षाओ के बाद ही वे 'लोकनाथ' 'विश्वपति' जैसे अत्युत्तम पद प्राप्त करने के लिए मानव-जीवन (जन्म) लेकर क्रमपूर्वक अपनी जीवनचर्या से ऊँचे चढ़ते हैं और दूसरों को चढ़ाते हैं। तीर्थंकर नामकर्म-विधान के मूल मे दो चीजें सुदृढ़ होती हैं, तभी वह बँधता है:—(१) विश्ववात्सल्य और (२) सर्वधर्मसमन्वय।

की सेना (चतुर्विध सघ) और अपने ठोस अनुभवो के निचोड़ रूप साहित्य-धन छोड जाते हैं।

ऐसे विश्ववन्द्य पुरुषो का आयुष्य भी दीर्घ होता है और शरीर[1] का ढाँचा (सस्थान) भी सुदृढ़, सुडौल और प्रमाणोपेत होता है।

इनके अतिरिक्त इस भूमिका मे रहे हुए सामान्यकेवलीकोटि के तीर्थंकरेतर[2] पुरुष भी अव्यक्तरूप से जगदुपकारक तो हैं ही, क्योकि वे भी अपने अमृतमय आन्दोलनो द्वारा ससार के दाहक वायु मे प्राणवायुरूप शान्ति का संचार करके और चारित्र की सौरभ भरकर क्षुब्ध जगत् को ताज़गी प्रदान करते रहते हैं मगर ऐसे गुप्त पुरुषो द्वारा मिलने वाली अनुपम सामग्री सक्रिय सर्वव्यापक रूप नही पकड़ती। इन दोनो प्रकार के महापुरुषो को—

'आयुष्य पूर्ण मटी ए दैहिक पात्र जो'

यानी—तेरहवें गुणस्थान मे पहुँचकर अपनी आयुष्य पूर्ण होने के वाद फिर जन्म धारण करना नही पड़ता। वे अपुनर्भवदशा[3] प्राप्त कर लेते हैं। क्योकि—

'जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदकदशा, मोक्षपंथ भव अन्त।।' (आ० ६)

गीता के शब्दो मे :

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मान. संसिद्धि परमां गताः ।।'

(गीता ८।१५)

---

१. जैनशास्त्रो मे उत्तम पुरुषों के शरीर का संहनन 'वज्रऋषभनाराच' और सस्थान (आकार) 'समचतुरस्र' वताकर उनके शरीर की सुन्दरता, सुडौलपन और मजवूती का सूचन किया है।

२. इन्हे जैनागमो मे 'सामान्य केवली' वताया गया है।

३. 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' को ही जैनधर्म मे 'सिद्धिगति' कहा गया है।

अर्थात्—परमात्मपद को प्राप्त हुए महापुरुषों को विनश्वर और दु:ख-पूर्ण ससार के जन्ममरण के चक्र मे फिर नही जुडना (फँसना) पडता ।

हे प्रभो ! ऐसा धन्य अवसर कब आएगा ?…

निष्कर्ष

शरीर जैसे मलमूत्र का भाजन है वैसे आत्मा के अमृत का भी भाजन है । जैसे यह हड्डी, माँस, रुधिर से भरा हुआ और चमडी से मढा हुआ विकार का धाम है, वैसे ही सस्कार और विश्ववात्सल्य जैसे उत्तमोत्तम सद्गुणो का भी धाम है । इस शरीर की निन्दा करने से, या सिर्फ घृणा करने से अथवा देहघात[1] करने से दोष घटते नही, बल्कि बढते जरूर हैं । शरीर को छोडने से शरीर नही छूटता, किन्तु शरीर के टिकने के मूल कारणो के छूट जाने से वह अपने-आप छूटजाता है । शरीर अपने-आप न छूटे वहाँ तक शरीर की स्वाभाविक क्रियाएँ, जैसे आहार, विहार, निहार, विराम, वाणी-उच्चार, मौन या निराहार आदि विभिन्न क्रियाएँ[2] भले होती रहे, वे इसमे बिलकुल बाधक नही हैं, क्योकि

१. आत्महत्या करने वाले या दूसरे को शत्रु मानकर मार डालने वाले अथवा मौज-शौक के लिए या स्वार्थ के लिए दूसरो का शिकार या संहार करने वाले वास्तव मे (जन्म-मरण से) छूट नहीं सकते। उन्हें बारम्बार जन्म लेकर आखिर जिस प्रकार का अपराध किया होगा, या वध किया होगा, उसकी पूरी भरपाई करनी होगी । तभी छुटकारा हो सकेगा । (देखो उत्तराध्ययन सूत्र ३६ अ० पृ० ३६४)

२. दिगम्बर जैनसम्प्रदाय में एक ऐसी मान्यता प्रचलित है कि केवल-ज्ञान होने के बाद केवली के कौर से लिया जाने वाला आहार और अन्य शारीरिक हाजतें छूट जाती है । वाणी मे भी ॐकार (प्रणव-मन्त्र) की ध्वनि के सिवाय दूसरा कुछ उच्चारण नहीं होता । यह कथन आचार्यों के वचन उद्धृत करके प्रमाणित किया जाता है । उन दि० आचार्यों ने जिस अपेक्षा से ऐसा कहा है, उस दृष्टि से—

क्रियाएँ करते हुए भी आत्मा की रसवृत्ति आत्मा मे है, पुद्गल मे नहीं। इसीलिए अन्त मे कर्म झड जाते हैं और दैहिक पात्रता—देह धारण करने की योग्यता—मिट जाती है।

[१७]

दूसरे गाँव जाते समय प्रीतिपात्र (स्नेही) जनो से विदा लेने की स्थिति और परलोक जाते समय (देह छोड़कर) ली जाने वाली विदाई की स्थिति मे जितना अन्तर होता है, उतना ही अन्तर आत्महंस परलोक जाने के समय शरीर को छोडता है, उस समय की स्थिति और परमधाम (मोक्ष) जाने के समय शरीर को छोडता है, उस समय की स्थिति मे है। परमधामगमन की शुभवेला की स्थिति निराली ही होती है। यह वात गले तो उतरती है। परन्तु वह निरालापन कैसा होता है और किस कारण से होता है? इसके जानने की उत्कण्ठा अवश्य रहती है और इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए पद्यकार अव रहस्य का पर्दा खोलते हैं .

यानी श्वेताम्बर और दिगम्बर संस्कृति की मूल बुनियाद की ओर दृष्टि रखकर—समझा-सोचा जाय तो दोनों की यथार्थता ध्यान मे आ सकती है। दिगम्बर जैनसंस्कृति की दृष्टि से सभी क्रियाएँ विभाव हैं, फिर वे चाहे शुभ हो, अशुभ हों या शुद्ध हो। एक मात्र ज्ञान ही स्वभाव है। श्वेताम्बर जैनसंस्कृति की दृष्टि से ज्ञान का फल ही क्रिया है। इसलिए क्रियाविहीन ज्ञान तोतारटन जैसा है। इस दृष्टि से तो ये दोनो परस्पर विरुद्ध दिखाई देते हैं। पर वास्तव मे ये दोनो एक-एक वाजू की ओर अधिक ढल जाते हैं, अगर इन दोनों वाजुओं का समन्वय किया जाय तो एक नदी के दो प्रवाह के समान आगे जाकर दोनो ठीक मिल जाते हैं। ज्ञान और क्रिया ये दोनो असल में गुप्त या प्रकट रूप में, एक या दूसरे प्रकार से निरंतर रहते हैं। जहाँ केवलज्ञान है, वहाँ स्वरूपरमणतारूप चारित्र भी है ही।

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्‌गल सम्बन्ध जो·
एवुं अयोगी गुणस्थानक ज्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥

अपूर्व···(१७)

अर्थ—मन, वचन, काया और कर्म की छोटी-बड़ी तमाम सजातीय (तत्‌सम्बन्धित) सामग्री छूट जाने से पुद्‌गलमित्रो से लगाव बंध हो जाता है। यानी जड़ और चेतन दोनों अपने असली रूप में आ जाते हैं। ऐसे बिलकुल स्वतन्त्र, जड़-चेतन के संयोग से रहित गुणस्थानक को प्राप्त करने का अधिकारी मैं कब बनूंगा!

विवेचन—तेरहवे गुणस्थान मे रहे हुए सयोगी[1] सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली के आयुष्य को पूर्ण होने मे सिर्फ अन्तर्मुहूर्तभर[2] समय रहता है, तब उसका उपयोग शुक्लध्यान के तृतीय पाद पर केन्द्रित होता है।

पहले तो इस भूमिका[3] मे स्थित केवली समुद्घात[4] करता है।

---

१. श्रीमद्‌जी के अभिप्राय से अन्तर्मुहूर्त यानी आठ समय से अधिक और दो घड़ी से कम काल।

२. मन-वचन-काया का व्यापार योग कहलाता है, यह जहाँ तक रहता है, वहाँ तक सयोगी दशा समझी जाती है।

३ यह नियम तो सभी शरीरधारियों पर लागू होता है कि जब आयुष्य छूटने में अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, तभी जिस गति या योनि में जीव को जाना होता है, उस गति तथा योनि के योग्य उसका कर्मसंग्रह व्यवस्थितरूप से जम जाता है। इस व्यस्थित जमावट का मतलब है पूर्व भव और इस भव के कर्मों की पोतेबाकी या आकड़ा। जैनपरिभाषा में इसे लेश्या कहा जाता है, यह कर्म-संग्रह ही उस जीव को परलोक में अपनी सजातीय योनि और गति में खींच ले जाता है।

४. समुद्‌घात=सम्+उद्+घात अर्थात् परस्पर एक साथ, एकदम

अर्थात् अपने असख्यात[1] प्रदेश रूप आत्मकिरणो की देदीप्यमान ज्योति

उघाड़ना-खोलना। यह इसका संक्षिप्त अर्थ है। इस पर से विशेषार्थ यह निकलता है कि जीव जब अपने अवशिष्ट सभी प्रदेशों (आत्म-प्रदेशों) को विस्तृत करके एक साथ प्रबलरूप से अमुक प्रकार के पुद्‌गलो को एक ही झटके मे 'उदीरणा' नामक करण द्वारा आकर्षित करके, भोगकर झाड़ने की क्रिया करता है, तब उसे 'समुद्‌घात' कहा जाता है। आयुष्य के सिवाय बाकी के तीनों अघाती (वेदनीय, नाम, गोत्र) कर्मों से केवली-समुद्‌घात होता है और यह काम निपट जाने के बाद उन कर्मपुद्‌गलों को अलग-अलग कर दिया जाता है।

समुद्‌घात के समय जीव भी समुद्‌घातरूप हो जाता है, क्योंकि उस समय उसका ज्ञान और दशा दोनों परस्पर ओतप्रोत रहते हैं। यहाँ इतना जरूर ध्यान मे रखना चाहिए कि केवली-समुद्धात के सिवाय बाकी के ६ समुद्धातो (वेदनासमुद्धात, कषाय-समुद्धात, मारणांतिकसमुद्धात, वैक्रियसमुद्धात, तैजससमुद्धात और आहारकसमुद्धात) मे आठ रुचक प्रदेश ओतप्रोत नहीं होते। ऐसी ओतप्रोतता अधिक-से-अधिक असंख्यात समय-रूप—अन्तमुहूर्तकाल तक टिक सकती है। उस दरम्यान कर्म झड़ जाते हैं और फिर वह जीव अपने विस्तारित प्रदेशो को पुन. संकुचित (सिकोड) करके चालू स्थिति मे आ जाता है। जीव के प्रदेश भी असंख्यात हैं। पर इस (समुद्धात) की अपेक्षा से जीव-प्रदेशों का विस्तार समग्र लोक को व्याप्त कर लेता है। समुद्धात के ७ प्रकार (ऊपर बताए गए) हैं। इसका विशेष वर्णन ग्रन्थ बढ़ जाने के डर से नहीं किया जा रहा है, जिज्ञासुओ को प्रज्ञापनासूत्र पद-३६ की टीका अथवा भगवतीसूत्र दूसरे शतक के द्वितीय उद्देशक की विशाल टिप्पणी देखनी चाहिए।

१. कर्म यानी आत्मा के साथ सम्बन्धित पुद्‌गल। ये पुद्‌गल इतने सूक्ष्म

को 'सर्चलाइट' के रूप मे फेंक कर फैलाते हैं और सारे जगत् को स्पर्श

है कि इनके परमाणुओं के अनन्त समूह (स्कंध) होते हुए भी वे चक्षुगम्य नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, कार्माण शरीर के रूप में वे संसारी जीवमात्र के साथ सर्वदा और सभी स्थितियों मे (आठ रुचक प्रदेश के अलावा) जुड़े हुए हैं। जैसे कर्म के 'अणु' होते हैं, वैसे ही आत्मा के 'प्रदेश' होते हैं। अणुओ के बदले प्रदेश इसलिए बताए कि अणु तो द्रव्य से पृथक् हो सकते हैं, परन्तु 'प्रदेश' अलग नहीं हो सकते। अलग होते दिखाई दें तो भी द्रव्य के साथ उनका सम्बन्ध अबाधित अखण्ड रहता है। मगर आत्मा अमूर्त है, इसलिए इन प्रदेशो मे एक विशेषता होती है कि जैसे जड़ अणु बिखर जाते हैं और बिलकुल अलग हो जाते हैं, वैसे आत्मा के प्रदेश अलग होते ही नहीं। जैसे इन प्रदेशों का आत्मा के साथ अकृत्रिम व अनश्वर सम्बन्ध है, वैसे ही उनमें संकोच-शक्ति का प्रभाव होने से वे छोटी-से-छोटी कीड़ी के शरीर मे भी समा जाते हैं, और अपनी विकास-शक्ति के प्रभाव से सारे विश्व मे भी व्याप्त हो सकते हैं। यहाँ दीपक के प्रकाश का स्थूल दृष्टान्त इसे समझने के लिए शास्त्रों मे दिया गया है। यद्यपि यह दृष्टान्त यहाँ सांगोपांग घटित नहीं हो सकता, क्योंकि दीपक का प्रकाश तो रूपी है, जबकि आत्मप्रकाश अरूपी है। परन्तु इस दृष्टान्त का एकाध अंश बौद्धिक समाधान के लिए श्रद्धालु तर्कशीलों को पर्याप्त होगा। जैसे एक कमरे में दीपक जल रहा हो तो उसका प्रकाश सारे कमरे को प्रकाशित कर देगा। किन्तु उस पर कोई बर्तन ढाँक दिया जाय तो वह प्रकाश उस बर्तन के घेरे-भर में ही प्रकाशित होगा, यानी वह प्रकाश उतनी जगह मे ही फैल सकेगा। वैसे ही आत्मा के प्रदेश शरीर की मोटाई, लम्बाई, चौड़ाई आदि के अनुसार फैलते हैं और इसी अपेक्षा से वे समग्र लोक मे व्याप्त हो सकते हैं। (शुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णव का भावनाप्रकरण देखो)।

कर लेते है। सारे जगत को स्पर्श करने का कारण तो पहले कहा जा चुका है कि उसने कर्मरूपी पूंजी उधार ली थी, वह जगत् की थी; इसलिए वापिस उसी जगत् के चरणो मे रखकर भरपाई करनी चाहिए। जीव के पास जो कर्म होते है, उनमे से कोई भाग ऐसा नही है, जिसने एक भी गति, एक भी योनि या एक भी परमाणु से सम्बन्ध बाँधे बिना जीव को अलग रखा हो। और अगर वह कर्मरूपी कर्ज थोडे समय के लिए का हो तो देना-पावना (देना-लेना) बाकी रहे तो भी चल सकता है, परन्तु यह तो हमेशा (कायम) का है। इसीलिए कहते है :—

'मन वचन काया कर्मनी ने वर्गणा'

पहले तो वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनो कर्म की पाँखो को चौडी करके पुद्गलमात्र[1] को स्पर्श करके, बादर (स्थूल) योगो को एकदम क्रमपूर्वक[2] सूक्ष्म बना डालता है और मनोयोग तथा वचनयोग पर विजय

१. पुद्गल का अर्थ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला द्रव्य। इसके ४ भेद है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु (उ० ३६३४)।

२. पुनर्जन्म के समय भी यही क्रम होता है। अति विकास वाले देहधारी को ही मन मिलता है, इससे कम विकास वाले प्राणी को वचन मिलता है और इससे भी कम विकास वाले प्राणी को सिर्फ काया ही मिलती है। और वह काया कर्म-वर्गणा को लेकर मिलती है। कर्मवर्गणा का सम्बन्ध जैसे जीवप्रदेश के साथ है, वैसे पुद्गल के साथ भी है। इसी कारण संसार-रूपी रेहट चलता है, भर जाता है, खाली होता है फिर भर जाता है। जीव-रूपी कृषक जहाँ तक रागमय रहता है, वहाँ तक यह क्रम चलता रहता है। इस प्रकार राग का छूटना एक-एक रज कण लेकर मेरुपर्वत खड़ा करने के समान महाकठिन है। इसीलिए कबीर साहब ने कहा—

"मन मरे, माया मरे, मर मर गए शरीर।
आशा तृष्णा ना मरे, कह गए दास कबीर।"

(साधना पुस्तक मे से)

प्राप्त करता है। तथैव सूक्ष्म काययोग पर स्थिर हो जाता है। इस 'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती' नामक शुक्लध्यान के तीसरे पाद मे दूसरी एक विशेषता यह है कि सामान्य रूप से ध्याता और ध्यान पृथक्-पृथक् होते हैं, पर यहाँ ध्याता और ध्यान दोनों एकरूप हो जाते है।

इस प्रकार आखिरकार काया और कर्म-समूह सर्वथा छूट जाते है और कर्म सर्वथा छूटे कि पुद्गल सम्बन्ध सहज ही छूटा ही समझो। क्योकि कर्मपुद्गलो का सरोकार आत्मा के साथ था, इसीसे पुद्गलो का खिचाव था। यह आकर्षण (खिचाव) अब गया, इसलिए योग-निरोध (मन, वचन, काया का निरोध) हो जाता है और तब आत्मा इस चौदहवें अयोगी गुणस्थानक मे—

'महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जो'

बन जाता है। अर्थात् पूर्णतया स्वाधीन और निर्बन्ध हो जाता है। अहो निर्योगी प्रभो! ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?…

निष्कर्ष

एक, दो, तीन इस क्रम से चढना होता है, इसी प्रकार उतरने का क्रम तीन, दो, एक है। विकास सीढी के सोपानो (जीनो) पर चढने के लिए पहले पतन की सीढी के सोपान उतरने होते हैं, इसलिए पहले मन, फिर वचन, तदनन्तर काया और कर्मपिण्ड, यो, चार, तीन, दो, एक, इस क्रम से ससार की सीढी पर से उतरना हो चुका, यानी जड-मात्र का सग छूट गया, आत्मस्वातन्त्र्य की विजय-पताका फहराने लगी और मेरुपर्वत के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए आत्मा ने

'मेरुगिरिशृंग रंगीलुं फरकंतु पेलुं पताक रे'

वाला दृश्य देखा।

[१८]

प्रास्ताविक

कर्म से ही जन्म-मरण होता है, इसलिए कर्म छूटने पर जन्ममरण छूट जाते है, यह बात चक्षुगम्य भले ही न हो, मगर तर्कगम्य तो है ही। परन्तु कर्म और आत्मा का सम्बन्ध हो जाने पर और कर्म तथा आत्मा समुद्घातादि क्रिया मे ओतप्रोत होने के कारण मिलने पर आत्मा और कर्म दोनो सदा के लिए अलग कैसे हो सकते है ? यह प्रश्न तो खडा ही है । परन्तु जैनाचार्यों इसका समाधान कर ही चुके है कि चाहे जैसे सयोगो मे, आत्मा जड मे चाहे जितनी ओतप्रोत बन जाय तो भी उसके आठ रुचक प्रदेश तो सदा निर्बन्ध[1] ही रहते है। क्योंकि—

जड़ चेतन तो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव ।
एकपणु पामे नहि त्रणे काल द्वयभाव ॥ आ० ५७

आठ रुचक प्रदेश की यह निर्बन्धता ही आत्मा को अपने स्वतन्त्र-स्वराज्य के मार्ग पर उडने की प्रेरणा—भले क्वचित् ही सुने या न सुने—देता ही रहता है। दूसरी चाहे जितनी वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ दी जाएँ तो भी वे पर्याप्त नही है, और 'यह नही, इतनी सी नही' इस प्रकार कहकर जीव अपनी असली स्वतन्त्रता की भूख प्रकट करता है । वही जीव की आत्ममुक्ति की तडफन की प्रतीति है। केवलीसमुद्घात के अलावा अन्य ससुद्घातो के समय भी ये रुचक प्रदेश बद्ध नही होते । केवलीसमुद्घात के समय तो आत्मा के सभी प्रदेश खुले होने से कर्म को सदा के लिए अलग कर दिया जाता है, इसलिए पुनः कर्मबद्ध होने का अवकाश ही नही। इसी बात को स्पष्ट

---

१. मूल सूत्रों मे ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखने मे नहीं आया। परन्तु टीकाकारों के अभिप्राय और गुरुपरम्परा से सुनी हुई बात पर से विचार करके—चूंकि वे मूलसूत्रो के प्रति वफादार हैं, ऐसा लगने से—यहाँ ऐसी बात ली गई है ।

करने के लिए कहते हैं —

एक परमाणुमात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलंकरहित अडोलस्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहज पद रूप जो ॥ अपूर्व···(१८)

अर्थ—(अब तो) पुद्गल के एक भी परमाणु का स्पर्श करना बाकी नहीं रहा। यानी आत्मा किसी मिलावट या दाग से रहित सम्पूर्णस्वरूप हो चुका। इस कारण आत्मा परम विशुद्ध, निरंजन, चैतन्यमूर्ति, बेजोड़, अगुरुलघु, अमूर्तरूप अपने सहज पद पर अचल स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

अहो त्रिलोकेश ! ऐसी अन्तिम शुभ घड़ी कब आएगी ?· ·

विवेचन—केवलीसमुद्घात द्वारा वेदनीयादि तीन कर्मों को झाड़कर योगो का निरोध किया जा चुका, यहाँ तक विवेचन हो चुका है। अब आयुष्य छूटने के अन्तिम क्षणो मे श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी बन्द हो गई, इसलिए आत्मा के सिवाय कोई भी वस्तु न रही। अर्थात्—

'एक परमाणुमात्रनी मले न स्पर्शता'

और यह तो साफ है कि विजातीय पौद्गलिक द्रव्य अपने सजातीय भाई-बद कर्म के विना एक क्षणभर भी टिक कहाँ सकता है ? ऐसी स्थिति होने से आत्मा बिल्कुल शुद्ध हो गया। उसने अपने आत्मत्त्व की पराकाष्ठा सिद्ध कर ली। पदार्थमात्र के सयोग-वियोग मे यह एक वैज्ञानिक नियम है कि जब वह योग (मन वचन काया का व्यापार) मे प्रवृत्त होता है, तब प्रवृत्त होते समय गाढ क्षणपर्यन्त निश्चेष्ट रहता है, इसी प्रकार योग से निवृत्त होता है, तब भी गाढ क्षणपर्यन्त स्वभाविकरूप से एकाग्र और निश्चल हो जाता है। इस एकाग्रता का गाढक्षण जो सवेदन कराता है, उसकी लज्जत को कोई भी उपमा नही दी जा सकती। इसी नियमानुसार आत्मा यहाँ पाँच ह्रस्व अक्षर (स्वर) (अ, इ, उ, ऋ और लृ) के

उच्चारण जितने काल[1] पर्यन्त निष्कम्प[2] हो जाती है। ससार और सिद्धि-स्थान दोनो दशाओ के बीच की यह अचल भूमिका बारम्बार चिन्तनीय है, पुन-पुन अवधारणीय है। इसमे शुक्लध्यान का समुच्छिन्नक्रिया-निवृत्ति' नामक चतुर्थ पाद होता है। आत्मा यहाँ सर्वांगसम्पूर्णता प्राप्त कर लेता है। शरद्पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी उज्ज्वल किरणे बिछाकर अमृत से नहलाए तो दुनिया नहाने मे कितनी विभोर हो जाती है! हृदय-मयूर नाच उठता है! फिर भी थोडा-सा दाग तो इस पूर्णचन्द्र मे रहता ही है! इसी प्रकार तेहरवे गुणस्थानक मे स्थित आत्मा अपने अत्यन्त उदार और उज्ज्वल स्वरूप से तीनो लोक को वात्सल्यमय लोचन-झरने से नहलाए तो भी शरीर को लेकर अल्प लाछन तो रहता ही है! मगर यहाँ तो वह भी दूर होकर 'सम्पूर्ण निष्कलक, केवल चैतन्यमूर्ति, निराकार, निरजन और अगुरुलघुस्वरूप अपने शाश्वत पद को बेधडक पा जाता है।' क्योकि—

> 'छूटे देहाध्यास तो नहिं कर्त्ता ए कर्म,
> नहि भोक्ता ए तेह्नो, ए ज धर्मनो मर्म।'
>
> (—आत्मसिद्धि ११५)

---

१. कालप्रमाण बताने के लिए यहाँ जो पाँच ह्रस्व स्वरोच्चारण की उपमा दी गई, उसके पीछे छिपा हुआ आशय तो यह है कि ये आदि और मूल स्वर हैं।

२ इस अवस्था को शास्त्र में—शैलेशी अवस्था कही गई है। शैल यानी पर्वत और ईश यानी सर्वोपरि। जैसे पर्वतो मे सर्वोपरि मेरुगिरि अडोल है, जो वायु के झोंकों या झझावातों से कभी डिगता नहीं, वैसे यहाँ भी आत्मा (इस स्थिति मे) संसार की किसी भी हवा से लेशमात्र भी विचलित नहीं होता। (देखो दशवैकालिक ४।२४)

३. अर्थात् केवल निष्क्रिय, निष्कंप। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान में तो सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास की क्रिया थी वह भी इस स्थिति में दूर हो गई।

निष्कर्ष

वाकी रहे हुए वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्त मे आयुष्य, यो चारो कर्म दूर हो गए, अत आत्मा को अपना नित्य और निर्लेप स्वरूप प्राप्त हुआ।

कोई संयोगोथी नहि जेनी उत्पत्ति थाय।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥६६॥
सर्व अवस्थाने विषे न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाणे सदाय ॥५४॥
भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप।
अजर, अमर, अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥१२८॥

अतएव—

'प्रथम देहदृष्टि हती तेथी भास्यो देह।
हवे दृष्टि थई आत्ममां, गयो देहथी नेह ॥'

(राजपद्य ५०६२)

---

१. जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और उपयोग ये जीव के विशिष्ट लक्षण हैं, वैसे 'अगुरुलघु' नामक गुण भी है। आत्मा भारी या हलका कर्म के कारण होता है, परन्तु इसका मूल स्वभाव तो 'अगुरुलघु है, यानी न यह भारी होता है न हलका। वैज्ञानिकों ने आत्मा का वजन निश्चित किया है, वह आत्मा का नहीं, परभव जाते हुए जीव के साथ रहे हुए तैजस कार्माण शरीर का है। आत्मा अरूपी होने से न छोटा है, न वड़ा। छोटा-वड़ा, यह व्यवहार-पुद्गलास्तिकाय को लागू होता है। दूसरे, लोक में रहे हुए (धर्मा-काश और जीव) द्रव्य अरूपी हैं। अरूपी होने के कारण ० निराकार है, अखंड है, निष्कलंक है और उपयोग के कारण चैतन्यमूर्ति है। देखो भगवतीसूत्र श० १, प्रश्नो० सूत्र प्रथम।

फिर तो पूर्ण स्वरूप मे एक भी परमाणु आश्रय कैसे पा सकता है? अत. इस भूमिका मे आत्मा केवल क्रिया-रहित अडोल बनकर—अर्थात् उस मेरुपर्वत के सर्वोच्च शिखर पर फहराती हुई ध्वजा को लांघ कर धनुष मे से छूटे हुए तीर की तरह सीधा अपने स्वस्थधाम की ओर उडा, गया! गया!! और पहुँच गया!!! यह कितना मनोहारी मगल दर्शन!!!

—×—

[१६]
प्रास्ताविक

जब तक तैजस और कार्माण शरीर रहते है, तब तक जीव को पुनर्भव करना पड़ता है, यह बात पिछले विवेचनो से हमे समझ मे आ चुकी। हम यह भी जान चुके कि इस पुनर्जन्म मे जीव के साथ जुडा हुआ सूक्ष्मशरीर ही अपने अनुरूप योनि या गति मे जबरदस्ती खींच ले जाता है और 'कर्मानुगो गच्छति जीव एक' इस नियम के अनुसार जीव को अपने कर्म के पीछे-पीछे जाना ही पडता है। यहाँ एक नई बात यह समझनी है कि पुनर्जन्म के लिए जाते समय उन-उन कर्मों के वश जीव एकान्त समश्रेणी मे शायद ही रह सकता है, प्रायः उस समय उसकी विषम गति होती है। जब विषमश्रेणी करता है, तब उसके अधिक-से-अधिक दो समय[1] (क्षण) बीच मे ही व्यतीत हो जाते हैं और वहाँ तक वह निराहारी रहता है। परन्तु स्वभावदशा प्राप्त होने के बाद स्वधाम मे जाने के लिए तो समश्रेणीपूर्वक ही प्रस्थान होता है। अर्थात् अन्तिम औदारिक, तैजस और कार्माण, ये तीनो शरीर अपने-अपने मूल पुद्गल-

१. 'एक द्वौ चानाहारक.'—तत्त्वार्थसूत्र २-३१।

२. औदारिक शरीर यानी हड्डी, मांस और रुधिर वाला स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर। पहले ५ शरीर बताए गए हैं, उनमे से यह एक ही हड्डी, मांस और रुधिरवाला है। गर्भावस्था में ही यह बनना शुरू हो जाता है। ऐसा शरीर मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों को मिलता

धर्म को पाने के बाद और आत्मा अपने मूल आत्मधर्म को पाने के बाद गाढ क्षण तक स्थिर होकर फिर उड जाती है। वह कहाँ उड जाती है, इस बात को बताते हुए पद्यकार अब कहते हैं —

"पूर्वप्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो।
सादि अनन्त अनन्तसमाधि सुखमां,
अनन्तदर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो॥ अपूर्व···(१९)

अर्थ—कर्मों से सर्वथा छुटकारा हो जाने के बाद उनके द्वारा आए हुए पूर्ववेग के कारण शरीर छूटते ही फौरन जीव अपने स्वाभानिक रूप के अनुसार ऊँचा जाकर सिद्धिस्थान प्राप्त कर लेता है। जिसकी आदि होते हुए भी अन्त नहीं है, ऐसे अनन्त समाधिसुख मे अनन्तज्ञान तया अनन्तदर्शन सहित आत्मा सर्वदा स्थिर हो जाती है।

है। उसमे भी मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण सम्पूर्ण होने से उसे मोक्ष का अधिकारी बताया है। मतलब यह कि मस्तिष्क का निर्माण पूर्णत हो तभी सभी करण (अन्तः, बाह्य) विकसित हो सकते हैं और सभी करण विकसित हो तभी वे आत्मशक्ति का प्रभाव सर्वांगतः झेल कर जीव को मुक्त बना सकते हैं। यानी मनुष्यगति प्राप्त होने के बाद तो स्त्री हो या पुरुष, गृहस्थ हो या संन्यासी, ब्राह्मण हो या शूद्र, किसी भी देश, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय और धर्म का क्यो न हो, उसमें सच्चा पुरुषत्व, सच्ची साधुता और सत्यलक्षी नकद आत्म-धर्म हो तो वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता ही है।

देखो—गीता अध्याय ९-३२, तथा १५-५।
उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३६।४९
तत्त्वार्थसूत्र अ० १०।७

मूल मे तो—'सर्व जीव छे सिद्ध सम जे समजे ते थाय।
(पण) सद्गुरु-आज्ञा, जिनदशा निमित्त कारण मांय॥'
—आत्म[illegible]

—ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा " ?

विवेचन—मूल पद्य मे 'पूर्वप्रयोगादि'[1] कहने का आशय तो यह है कि पूर्वप्रयोग से, सग के अभाव से, वन्धन टूट जाने से और उस प्रकार के जीव के गति परिणाम से, यानी इन चार कारणो से मुक्त जीव ऊपर (सिद्धालय मे) जाता है।

कर्मों का सर्वथा नाश हो गया, पुद्‌गलो के साथ सम्वन्ध विलकुल छूट गया, और कर्मनाश मे मदद करने वाले कितने ही भाव[2] भी नष्ट हो गए, अब एक समय मे तीन घटनाएँ हुई—(१) शरीर का वियोग, (२) सिद्धगति की ओर जीवन का प्रयाण और (३) लोक का सीमा पर जाकर हुई आत्मा की स्थिरता। श्रीमद्‌जी कहते हैं :—

'देहादिसंयोगनो, आत्यन्तिक वियोग।
सिद्धमोक्ष शाश्वत पदे, निज अनन्त सुखभोग ॥'

(आत्मसिद्धि ९१)

जैसे वाण से तीर छूटते ही उसे पूर्व वेग मिलता है, वैसे आत्मा का शरीर से वियोग (आत्यतिक) होते ही शरीर का पूर्ववेग आत्मा को मिलता है, यह वात तो समझ मे आ जाती है, पर फिर भी प्रश्न यह रहता है कि वेग मिलने पर भी वह वेग के कारण ऊर्द्ध्‌वगमन करती है, इसका क्या कारण ? इसका उत्तर यह है कि ऊर्द्ध्‌वगति ही आत्मा का सहज स्वभाव है, वह नीचे या तिरछी जाती है, उसका कारण तो कर्म की प्रवलता है। शास्त्रकार लेप लगे हुए तुम्वे का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे

---

१ 'पूर्वप्रयोगादसगत्वात् वन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्‌गति':— तत्त्वार्थ सूत्र अ० १०।६

२ यद्यपि पद्यकार ने यह वात नहीं कही है, तथापि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति कहते हैं—औपशमिक, क्षयोपशमिक, औदयिक और भव्यत्व ये भाव भी जो मोक्षमार्ग में सहायक हुए थे, अब नष्ट हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र अ० १०-४।

तुम्बे का स्वभाव जल पर तैरना है, पर लेप[1] के कारण वह नीचे जाता है, फिर भी लेप के दूर होते ही तुरन्त ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार कर्मसगी आत्मा और कर्मयुक्त आत्मा के बारे मे समझ लेना चाहिये ।

अभी तक प्रश्न यह खडे हैं कि पद्यकार ने—

'ऊर्द्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'

कहा है, तो वह सिद्धालय क्या है ? वह कहाँ है ? आत्मा की वही स्थिरता क्यो होती है ? उससे ऊपर क्यो नही ? इन सबके उत्तर शास्त्र इस प्रकार देते हैं—'सम्पूर्णसिद्धि प्राप्त होने के बाद आत्मा जहाँ जाकर स्थिर होती है, उसे 'सिद्धालय'[2] कहा जाता है । वह स्थान (सिद्धशिला) लोक[3] के किनारे (सीमा) पर आया हुआ है । इससे ऊपर आत्मा के के गमन न होने का कारण यह है कि इससे ऊपर अलोक है और अलोक मे जाने लिए गति मे सहायक होने वाला 'धर्मास्तिकाय'[4] द्रव्य है ही नही ।

---

१ भगवती सूत्र स्कंध १ला, सूत्रांक २८३ ।

२. सिद्धो का आलय (स्थान) सिद्धालय है । इस स्थान के लिए इसके अलावा अन्य ११ पर्यायवाची शब्द शास्त्रों में बताए गए हैं ।

३. जैनदृष्टि से जगत् के लोक और अलोक ये दो विभाग बताए गए हैं । जहाँ तक जीव और अजीव दोनों हैं, वहाँ तक लोक कहलाता और जहाँ अजीव द्रव्य मे ये सिर्फ आकाश द्रव्य ही होता है, वह अलोक कहलाता है । (देखो उत्तरा० अ० ३६।२) और यह सिद्धालय ठेठ लोक की सीमा पर है, इस वर्णन के लिए देखो उत्तरा० अ० ३६।५५ से ६५ तक)

४. जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये दोनों गतिशील हैं । परन्तु कोई भी पदार्थ गतिशील या स्थितिशील हो तो भी उसकी गति या स्थिति मे सहायक तत्त्व होना ही चाहिये; इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार जैनदर्शन ने धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो द्रव्य क्रमशः माने हैं; इनमे से पहला गतिसहायक लक्षणवाला है

इसीलिए मेरुगिरि के उत्तुंगशिखर पर जाकर विजयध्वज को छू कर अन्त मे 'आंबी ने अम्बर थंभवुं अन्तिम ए ज विराम[1] रे' इसके अनुसार वही अन्तिम विराम लेता है। गीता भी इसी वात को ध्वनित करती है—

'यत् प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गीता-८-२१)

वहाँ से फिर लौटकर आना होता ही नही। अब उस स्थान को पाने के वाद आत्मदशा कैसी होती है, यह आगे के चरण मे वताते हैं —

'सादि अनन्त अनन्तसमाधि सुखमां.

यहाँ पुन पुनर्जन्म की घटमाला छूट जाती है, इससे आत्मा की स्वभाववेदकता (स्वभावज्ञान) भी छूट जाती है, ऐसा नही समझना। वहाँ दु ख का अभाव होता है, पर सुख का अभाव नही। यानी सुख-दु ख की क्षणजीवी प्रतीतियो (feelings) से परे जो सहजसुख है, वह वहाँ स्थायी रहता है। यद्यपि यह सुख आत्मा के लिए बिलकुल नया है, अपूर्व है,

---

और दूसरा स्थितिसहायक लक्षण वाला है। इसके सिवाय लोक में भी आकाशास्तिकाय नामक एक द्रव्य है, जो सभी द्रव्यों का भाजन है और जिसका लक्षण है—'सभी को अवकाश देना।' श्वेताम्बर जैनआम्नाय में कालद्रव्य का क्षेत्र केवल ढाईद्वीपप्रमाण माना है। (देखो उत्तरा० अ० २८।६ से १३ तक)

१ साधना-सप्ताह पुस्तक मे से जैनसूत्रो मे वताए हुए सूक्ष्म-विज्ञान की एक वात यहाँ कहना अप्रासंगिक न होगा कि 'सिद्धस्थान प्राप्त करके आत्मा अपने मूल शरीर की चौड़ाई के $\frac{2}{3}$ भाग के अवकाश मे अपने प्रदेशसहित रहता है। और इस सिद्धिस्थान मे अनन्त जीव होते हुए भी उनके प्रदेश परस्पर (जैसे एक दीपक का प्रकाश दूसरे दीपक के प्रकाश में बाधक नहीं वनता वैसे) बाधक नहीं वनते। मूल शरीर जितनी जगह रोकता है, उसके $\frac{2}{3}$ भाग मे रहने का कारण तो यह है कि शरीर मे $\frac{1}{3}$ भाग तो मुख, कान, पेट आदि मे खाली होता है। देखो उत्तरा० अ० ३६।७३

इसलिए सादि है, यानी उसकी आदि (शुरुआत) ज़रूर है। पर उसका अन्त कभी नही है, यह निश्चित है।

यहाँ एक शका अवश्य पैदा होती है कि फिर तो 'जो नही है, वह कभी नही होता और जो है, वह सदा है' इस अबाधित नियम को क्षति पहुँचती है। पर यह शका महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि जिस सुख के सादित्व की यहाँ कल्पना है, वह सिर्फ पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है। निश्चय नय की अपेक्षा से तो जीवमात्र मे सत्ता मे ऐसा सुख पडा ही हुआ है। परन्तु कर्म के व्यासग के कारण उस सुख के सहजभाव का जीव कभी वेदन नही कर सकता। उस कर्मव्यासग के छूटते ही वह उसका वेदन कर सकता है, क्योकि अब उसकी स्वरूपसमाधि[1] अनन्त हो चुकी है। इसलिए यह सुख भी अनन्त (शाश्वत) हो गया है।

इस स्वरूपसमाधि के अनन्तसुख का सवेदन किस कारण से करता है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए पद्यकार आगे कहते हैं—

'अनन्तदर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो'

चूंकि इस भूमिका मे अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान जो हैं। बस यही—

---

१ साधनकाल की समाधि और सिद्धिकाल की समाधि मे इतना ही अन्तर है कि साधनाकाल की समाधि देहबन्धन और कर्मसंग होने के कारण मर्यादित अवधि (समय) पूरी होते ही छूट जाती है, परन्तु सिद्धिकाल की समाधि शाश्वत रहती है। वह खण्डित होती ही नहीं; क्योंकि अब समाधिभंग के कारण सर्वांगसिद्धि प्राप्त हो जाने के बाद नष्ट हो गए हैं। और 'सत्यमुदा पतिसंगमा रंग अभंग आराम रे' की-सी स्थिति हो जाती है।

२. यहाँ एक बात की ओर ध्यान खींचना जरूरी है, वह यह कि कई मंतो, पंथो और पूर्व-मीमासा जैसे दर्शन (तथा ईसाई-इस्लाम आदि पाश्चात्य धर्मो) ने स्वर्ग तक की और इतर दर्शनों ने (पौर्वात्य धर्मो ने भी) दु खाभावरूप मोक्ष तक की कल्पना और अपनी-

'जिन पद निजपद एकता भेदभाव नहि कांई'

(राजपद्य पृ० ११६)

और 'व्यवहार से देव जिन, निश्चय से है आप'

(राजपद्य पृ० ९)

के अनुसार सर्वान्तिम सर्वोच्च भूमिका आ जाती है।

बस, इसी सर्वान्तिम भूमिका की उत्कण्ठा प्रतिक्षण आप और हम सब मे हो, यही अभ्यर्थना ।।

निष्कर्ष

अलवेले योगीश्वर आनन्दघनजी समतामहारानी के मुख से यही वात कहला रहे हैं—

'पर घर भमतां स्वाद कियो लहै, तन धन यौवन हाण'

(आनन्दघन बहोत्तरी पद ५६।३)

ममता मे जाना ही पर घर—पराधीन—कर्मपरवशदशा है और यही है परदेश। और समता मे स्थिर होना ही निज घर—आत्म स्वातन्त्र्य और यही है स्वदेश।

अपनी भूमिका (कक्षा) तथा परिभाषा के अनुसार उपाय भी प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि वेदान्त ने आत्मा को विभु (विश्वव्यापी) माना है, तथा दुःखाभाव उपरान्त आत्मा के सहजानन्द स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। गीता ने इससे आगे बढ़कर 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद् धाम परम मम' कहा। मगर वह परमधाम कहाँ है? कैसा है? वहाँ आत्मा किस स्थिति में सहजसुख का संवेदन करता है? इसका स्पष्टीकरण तो यहाँ जैन-सूत्रों के जैनदृष्टि से वर्णन द्वारा ही हुआ है।

३ मतो और पंथों के विविध झरने धर्म-रूपी महासरिता मे मिल जाते हैं। धर्म भी षट्दर्शनों की खाड़ी में मिल जाते हैं। दर्शन सत्य के सागर में मिल जाते हैं और अन्त मे सभी सच्चिदानन्द के महा-

इस प्रकार ममता छूटी, माया छूटी, काया छूटी और शिव (कल्याण-कर) अचल, अरोगी, अनन्त, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति वाला अपना घर मिला। आत्मा का अपने प्रदेशो सहित अस्तित्व, स्वभाव, ज्ञान, स्वभाव-वेदन मिला। यानी सच्चिदानन्द दशा का स्वरूप स्वदेश मिल गया।

अहो कैसा है यह अनुपम क्षण !

अव तो कहो—

'सहजानंदी शुद्ध स्वरूपी, अविनाशी मैं आत्मस्वरूप' !

—×—

[२०]

प्रास्ताविक

सिद्धि के सोपानो का क्रमश. वर्णन पढ चुकने के वाद पाठक के मन मे एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह सव कथन अपरोक्षानुभूति (प्रत्यक्ष अनुभव) पर से कहा गया है या आप्तपुरुषो के वचन पर से ? इसका उत्तर निखालिस हृदय से पद्यकार स्वय ही देते हैं—

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो;

सागर मे मिल कर मूल से लेकर अन्त तक की ऐसी आत्मीयता साध लेते हैं कि इस अवधिशिखा पर जगत् के सूक्ष्म व स्थूल समस्त स्वरूप एक ही विश्वात्म-स्वरूप के चित्र-विचित्र आविष्कार हो जाते हैं। वहां जरथुस्त का वहिश्त, हजरत महमद का जन्नत और पूर्व मीमांसा का स्वर्ग अलग नहीं है। ईसामसीह का प्रेमस्वरूप प्रभु और योगदर्शन का ईश्वर भी वहां अलग नहीं है। बुद्ध का निर्वाण और नैयायिक-वैशेषिक की मुक्ति पृथक-पृथक नहीं हैं। वेदान्त का 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' और जैन तत्त्वज्ञान का 'एगे आया' वहां भिन्न नहीं है। वहां ग्रीक तत्त्वज्ञान ही नहीं, सारे विश्व का ज्ञान अन्तर्लीन हो जाता है।

तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शु' कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्यु ' ते ज्ञान जो ॥ (अपूर्व···२०)

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् भी जिस पद का सिर्फ वेदन कर सकते हैं, कह नही सकते; ऐसे अनिर्वचनीय अकथ्य स्वरूप को दूसरो की (छद्मस्थो की) वाणी तो कह ही कैसे सकती है ? वास्तव मे वह ज्ञान अनुभव का विषय है।

विवेचन—वाणी अन्त करण मे उठाने वाले भावो को व्यक्त करने का सावन अवश्य है, लेकिन शब्दरूप धारण करने के वाद तो यह पुद्-गल होने से इसका स्वरूप ही वदल जाता है। इसीलिये चाहे जैसे प्रेरक भावो से वाणी निकली हो, फिर भी पाठक की आत्मा प्रेरणा झेलने के लिए उतनी तैयार न हो तो उसके लिए वह साधक नही होती। इसलिए शब्दात्मक वाणी पुद्गल (लक्षण) रूप है और ज्ञान चैतन्यलक्षण है। अतएव कहते है—

'परमपद का अनुभव जो सर्वज्ञ पुरुष को प्रत्यक्ष होता है, उसे भी वे प्रभु (सम्पूर्ण रूप से) वाणी मे उतार नही सकते यानी वाणी उसे कहने मे असमर्थ होती है।' क्योकि चैतन्य का अनुभव पुद्गल मे (समग्र रूप से) कैसे उतर सकता है ? फिर भी उस परमपुरुष के मुखारविंद से होने वाले उपदेश से जितनी प्रेरणा दूसरो मे उस निमित्त से जागती है, उतनी प्रेरणा दूसरे (छद्मस्थ) के उपदेश से उसके पीछे अनुभव की कमी के कारण नही जगती। क्योकि अनुभव की जो प्रतिच्छाया पडती है, जो सर्जन पैदा होता है, वह प्रतिच्छाया अनुभवविहीन की वाणी के प्राकट्य से नही पडती। इसीलिए पद्यकार कहते हैं कि जहाँ ऐसी स्थिति है, वहाँ ऐसे स्वसवेद्य-स्वरूप को मेरे जैसे की वाणी क्या कह सकती है ? क्योकि वह ज्ञान केवल अनुभवगोचर है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ज्ञानमात्र अनुभवगम्य है तो फिर उसी ज्ञान का निर्देश करके उस पर विशेष भार डालने का क्या कारण है ? उत्तर यह है कि केवल एक आत्मज्ञान ही अनुभवगम्य है, उसके सिवाय के परोक्ष ज्ञान से सम्बन्धित

वस्तु प्रत्यक्ष न हो तो भी हेतु, दृष्टात आदि से वस्तु का बोध हो जाता है, क्योकि यह परोक्षज्ञान[1] बहुत करके चक्षुगम्य या बुद्धिगम्य होता है।

निष्कर्ष

सारा अध्यात्मज्ञान आत्मप्रत्यक्ष है। केवलज्ञानी भी जैसे इस ज्ञान का अनुभव अपने अत्यन्त निकट रहने वाले साधक या अन्तेवासी को भी नही करा सकते, वैसे ही यह अनुभवदर्शन, (पूर्णतया) वाणी द्वारा (शब्दो मे) प्रगट नही कर सकते। मूक व्यक्ति को मिठाई के मिठास का अनुभव होता है, किन्तु वह उसे शब्दो मे प्रगट नही कर सकता है, वैसा ही मूक आत्मसवेदन का हाल है। वहाँ मेरे जैसो (—या दूसरो) को तो ऐसी अद्भुत शुभवेला कब आएगी ?' इस प्रकार की प्रार्थना के सिवाय कोई अन्य उपाय नही !

—×—

[२१]

प्रास्ताविक

अब पद्यकार के सामने एक गभीर सवाल पैदा होता है कि अगर यही स्थिति है तो फिर इस पद्य-रचना का प्रयोजन क्या है ? इसके उत्तर

१ जैनदर्शन में सिर्फ आत्मा की सहायता से होने वाले आत्म-ज्ञान को ही प्रत्यक्षज्ञान कहा है और उसमें भी सर्वोच्च पद केवलज्ञान को दिया है। मति-श्रुतज्ञान को वह परोक्ष मानता है, क्योंकि वे इन्द्रियों की सहायता से होते हैं। जबकि नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनशास्त्र आंखों से दीखने वाली वस्तु को ही प्रत्यक्ष मानते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन की प्रत्यक्ष की परिभाषा बहुत गहराई में जाती है। यद्यपि बाद के जैनाचार्यों ने नैयायिकादि कृत प्रत्यक्ष की परिभाषा को परोक्ष होते हुए भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है, और वास्तविक प्रत्यक्ष को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा है।

मे वह स्वय ही कहते है —

एह परमपद प्राप्तिनु धर्यु ध्यान में,
गजा वगरने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो,
प्रभुआज्ञाए थाशु ते ज स्वरूप जो ।। अपूर्व…(२१)

अर्थ—यह तो मैंने परमपद प्राप्त करने की मेरी मुराद प्रभु के चरणो मे चिन्तन द्वारा प्रस्तुत की है। इस समय तो इस परम स्थिति को प्राप्त करना मेरे बूते से बाहर की बात है। परन्तु मेरे मन मे ऐसी दृढ़ निष्ठा है कि अगर प्रभु की आज्ञा के अनुसार चला जाय तो अन्त में वह (परम) स्वरूप प्राप्त होगा, अवश्य होगा !!

विवेचन—जीव कहता है—"नाथ ! इस पद को प्राप्त कर चुकने का मेरा दावा नही है। दावा होता तो आपके चरणो मे याचना करने की जरूरत ही क्या रहती प्रभु !

प्रभुध्वनि आती है—"अच्छा वत्स ! मान लो कि मैं तुम्हे वह पद दे दूँ तो !!…"

जीव कहता है—"परमात्मन् ! आपने ही पहले कहा है कि "यह पद मैं दे नही सकता, क्योकि यह[1] दी जा सकने जैसी वस्तु ही नही है !" फिर भी अगर आप दे भी दे तो मुझमे पचाने की अभी लायकात (ताकत) हो तब न !"

"सच्ची बात यह है कि 'जो जिसका चिन्तन[2] करता है, वह तद्रूप बन जाता है', इस न्याय के अनुसार आपके परमपद के चिन्तन से मैं भी तद्रूप (तन्मय) बनना चाहता हूँ।"

---

१. इस बारे मे देखो आचारांगसूत्र ५-२-११ की टिप्पणी।

२ 'वीतराग ! तव ध्यानाद् वीतरागो भवेद् भवी' (जैनाचार्य) इस नियम के अनुसार जैसे दर्पण हाथ में लेते ही मुखाकृति का भान हो जाता है, वैसे ही सिद्ध या जिनेश्वरस्वरूप के चिन्तनरूप दर्पण से भी आत्मस्वरूप का भान हो जाता है। (मोक्षमाला पाठ १३)

प्रश्न यह उठता है शक्ति के विना सिर्फ चिन्तन करने से वस्तु-प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर इसी पद्य का द्वितीय चरण यो देता है कि—अगर सच्ची लगन हो, हार्दिक तडपन हो तो तडफनरूपी राख मे से खरी क्रियाशक्ति अपने आप पैदा होती ही है। परन्तु ऐसी लगन—नित्यवस्तु के प्रति वफादारी, दृढ सकल्प मांगती है। इसीलिए पद्यकार कहते हैं :—

'तो पण निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो'

अर्थात्—'मैंने मन के साथ तय करके दृढ वज्रसकल्प किया है।' मगर मनोवृत्ति उलटे मार्ग की ओर क्यो नही ले जा सकती ? क्योकि जीव को अनादिकाल से स्वच्छन्दता की आदत जो पड गई है ! इसीलिए अन्त मे पद्यकार सचाई के द्वार खोल रहे हैं—

'प्रभु आज्ञाए थाशु' ते ज स्वरूप जो'

प्रभु आज्ञा के विना परमपद—आत्मस्वरूप (पूर्ण) प्राप्त ही नही हो सकता। इतना ही नही, उनके अवलम्बन के विना एक कदम भी भरना केवल अधोगति का पाप सिर पर लेकर भवाटवी मे भटकने जितना अत्यन्त खतरे से भरा है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि प्रभु तो निरजन, निराकार, निर्लेपी, और स्वरूपनिमग्न हैं, फिर वे कैसे आज्ञा कर सकते हैं ?

इसका उत्तर एक दृष्टि से तो यह है—"अमुक काल, अमुक क्षेत्र मे तो स्वय जिनदेव के सन्देह रूप से मौजूद होने की सम्भावना है ही। और निर्लेपी और स्वरूपमग्न होने से आखिर तो वे निरञ्जन-निराकार वनते हैं, पर उससे पहले वे अपनी अमरवाणी का दान करते हैं। तथापि ऐसे महापुरुष का जहाँ अभाव होता है, वहाँ उनके द्वारा वताए (प्रज्ञप्त) मार्ग पर चलने वाले सन्त पुरुष और वीतरागमार्ग के प्रेरक सच्छास्त्र तो शोधक (खोज करने वाले) को तो किसी भी काल और किसी भी क्षेत्र मे मिल ही जाते है।

---

१ 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ'।

निष्कर्ष

* विचार और विवेक के विना जिज्ञासा पैदा होना अशक्य है।
* विचार का अर्थ है—जीवन मे अद्‌भुतता, नवीनता और दिव्य-दृष्टि का प्रेरक!
* विवेक का अर्थ है—सत्यासत्य का पृथक्करण-विश्लेषण-छानबीन।
* जिज्ञासा के विना श्रद्धा पैदा होना अशक्य है।
* श्रद्धा का अर्थ है—'सत्पुरुषो के अनुभव, शास्त्रवचन और अपनी विवेक-बुद्धि, इन तीनो के समन्वय के बाद सत्प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ का अटल निश्चय जागृत होना।
* श्रद्धा के विना सत्पुरुषो की आज्ञाराधना अशक्य है।
* सत्पुरुष का अर्थ है—नि स्पृहता, निखालिसपन और सत्य की साक्षात्मूर्ति।
* निस्पृहता, निखालिसपन और सत्य की उत्कटता ही है सत्पुरुष की आज्ञा।
* आज्ञाराधना के विना वज्रसकल्पपूर्ण सत्याचरण अशक्य है।
* कष्टो और प्रलोभनो को समभावपूर्वक जीतना ही वज्रसकल्प-पूर्ण सत्याचरण है।
* वज्रसकल्पमय सत्याचरण के विना ध्यान अशक्य है।
* ध्यान यानी एकाग्र आत्मचिन्तन। ध्यान के विना सिद्धि नही।
* सिद्धि यानी वीतरागभाव की पराकाण्ठा।

उपसंहार

महापुरुषो का मार्ग यानी भीतर और बाहर की गाँठों से छूटने का मार्ग। इसके लिए सबसे पहली शर्त तो यह है कि सभी (विद्यमान) सम्बन्धो मे से (आसक्ति का) तीक्ष्ण बन्धन काट डालना चाहिए। परन्तु इस शर्त को पूरी तरह से पालने के लिए सर्वप्रथम इतनी योग्यता होनी चाहिए– (१) भावमात्र से उदासीनता और (२) देह सयम के लिए है, विलास के लिए नही, इस प्रकार का सच्चा विवेक। ऐसी उदासीनता और सच्चे विवेक मे से स्वत ही चैतन्यज्ञान पैदा होता है। चैतन्यज्ञान सच्चा है या नही, इसे नापने का गज है—जीवन मे सत्याचरण की तीव्रता जागना, शुद्ध स्वरूप के ध्यान की लगन लगना। इस मार्ग पर चलते समय अनेक तर्कित-अतर्कित मुसीबतें अचानक आकर कसौटी करने के लिए अडी खड़ी हो, उस समय उन्हे पार करने मे न तो घबराहट हो, और न खेद या अभिमान ही हो। इसके लिए एक ओर से सयमरूपी नैया अच्छी होनी चाहिए और दूसरी ओर वह सयमरूपी नैया सही दिशा की ओर है या स्वच्छन्दता के पथ पर? इसकी जाँच करने के लिए कुतुबनुमा (ध्रुव-दिशादर्शक यन्त्र) रूप वीतरागवचन की आज्ञाधीनता होनी चाहिए।

इतना होने पर ऐसी अचूक जागृति पैदा होती है कि साधक को विषय लुभा नही सकते। मन जरा-सा भी उस ओर खिच जाय तो उसे अकथ्य-असह्य वेदना होती है और किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध (लादे हुए बन्धन) को न रखकर अन्तरग भाव मे डूबा रहता है।

इस क्रम से आगे जाने पर, जिन-जिन वृत्तियो मे से क्रोध, मान, माया और लोभ पैदा हुए है, वे वृत्तियाँ दबती जाती हैं और साधक समतारस का प्याला पीता जाता है।

इसकी पक्की प्रतीति दो तरह से होती है—(१) आन्तरिक दृष्टि से और (२) वाह्य दृष्टि से। आन्तरिक दृष्टि का सबूत यह है कि वह स्वय जैसे क्रोध को दवाता है, वैसे ही दूसरो के क्रोध को भी मूल से झट परख लेता है और दववा सकता है। दूसरो का क्रोध खुद को कुपित न करे, तव समझना कि सचमुच क्रोध जीत लिया है। इसी प्रकार अभि-मान, माया और लोभ के वारे मे समझना।

वाह्य दृष्टि ही अन्तरग दृष्टि का दर्पण है। इसलिए ऐसा उच्च साधक शरीर पर किसी भी प्रकार की मूर्च्छा न रखे, शत्रु और मित्र दोनो के प्रति समभाव से देखे, निन्दा-प्रशसा को पचाना जाने और जीवित या मृत्यु दोनो में अन्तर न समझे। अन्ततोगत्वा वह इतना निर्लोभी वन जाय कि कोई उसे मोक्ष देने आए तो भी मोहग्रस्त न हो। इतना निर्मोही वना कि फिर उसे भय किसका रहा? श्मशान और महल ये दोनो उसके लिए सरीखे हैं। सिह, चीता और बाघ आदि क्रूर प्राणियो मे रहे हुए आत्मा के साथ उसे किसी प्रकार वैर नही होता, फिर उनको देखकर उसकी छाती धड़केगी ही क्यो?

ऐसे निडर मे इच्छामात्र का निरोध तो सहज ही होता है। कोई अलौकिक ऋद्धि या अप्रतिम सिद्धि भी उसे थोथी लगती है। आगे जाते इतनी दूर साधक पहुँच गया हो, किन्तु अगर मूल से ही कोई अशुद्धि रह गई हो तो पतन का भय खडा ही है। पर मूल मे श्रद्धा और शुद्ध-बुद्धि ये दोनो पाँखें ठीक हो तो उच्च गुणस्थान के गगन मे उडा जा सकता है। इस उड़ान के फलस्वरूप पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है और आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है।

अर्थात्—

भवजीव का नाश हो जाता है;
और सर्वकार्य को सिद्धि होती है।

फिर तो जहाँ तक आयुष्य रहता है, वहाँ तक आत्म-ध्यान मे मुख्योपयोग रूप से टिककर, अनासक्तभाव से क्रिया करता हुआ अन्त मे जड से सर्वथा

सम्बन्ध छूट जाने पर सहजपद मे स्थित हो जाता है। यह स्थान जहाँ है, वहाँ से वापस लौटना नही होता। वहाँ अनन्त समाधि है, अनन्त सुख है!

ऐसे परम पद के वर्णन के लिए केवल वाणी पर्याप्त नही है। यह तो मुख्यतः अनुभव का विषय है। ऐसे सर्वोत्तम पद के मुख्य अवलम्बन दो हैं—

(१) इस मार्ग पर जाने का दृढ़ संकल्प

और

(२) प्रभु के प्रति दृढ समर्पणभाव

(समाप्त)

परिशिष्ट

१. अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?—उत्त० अ० २६ गा० २२
क्यारे थइशु वाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो—उत्त० अ० ४ गा० ३
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने —उत्त० अ० ८ गा० ४
विचरशुं कव महापुरुषने पंथ जो—आचा० १, उद्दे० ३, सू० १
अपूर्व अवसर० 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'—महाभारत

२ सर्वभाव थी औदासीन्य वृत्ति करी—उत्त० अ० २६ गा० २
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो—दश० अ० ६ गा० २०-२१
अपूर्व अवसर०···

३ दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जो—उत्त० अ० २८ गा० ३०
देहभिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो—उत्त० अ० २८ गा० ३५
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए—उत्त० अ० २८ गा० ३०
वर्ते एवु शुद्ध स्वरूपनु ध्यान जो;
अपूर्व अवसर०······

४. आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगिनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी—उत्त० अ० २ गा० १३
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अन्त जो।
अपूर्व अवसर०······

५. संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो—आ० १ अ० ६ उद्दे० १, सू० ६

ते पण क्षण-क्षण घटती जती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमा लीन जो।
अपूर्व अवसर०......

६ पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता—उत्त० अ० २६ गा० ६२ से ६६
पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो—आचा० १, अ० ९ उद्दे० ४ सू० ३
विचरशु उदयाधीन पण वीतलोभ जो—आ० १ अ० ६, उ० २, सू० ४
अपूर्व अवसर०......आ० १ अ० ६ उ० २, सू० ५

७. क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो
माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी
लोभ प्रत्ये नहीं लोभसमान जो
} उत्त० अ० २६ गा० ६७ से ७० अथवा दश० अ० ८, गा० ३७
अपूर्व अवसर०......

८ बहु उपसर्गकर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं—उत्त० अ० २, गा० ११
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो—उत्त० अ० २ गा० ३८
देह जाय पण माया थाय न रोममा—उत्त० सू० व आ० अ० ६ उ० ३ सू० ६
लोभ नहि छो प्रबल सिद्धि निदान जो—उत्त० अ० २ गा० २६ और ४३-४४
अपूर्व अवसर०......

६ नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता—आ० १ अ० ६ उ० १ सू० १८
अदतधावन आदि परम प्रसिद्ध जो—आ० १ अ० ६ उ० ४ सू० २
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहि—भगवती० शतक १ उ० ६ प्रश्न न० ३००
द्रव्यभावसंयममय निर्ग्रंथ सिद्धि जो।
अपूर्व अवसर०......

१०. शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता—उत्त० अ० १६ गा० २५

मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते स्वभाव जो
} उत्त० अ० १६ गा० ६०

अपूर्व अवसर० ······

११ एकाकी विचरतो वली श्मशानमां—उत्त०अ० २ गा० २०-२१
वली पर्वतमां वाघसिंह संयोग जो " "
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।
अपूर्व अवसर०······

१२ घोर तपश्चर्या मां (पण) मनने ताप नहि—उत्त० अ० २ गा० ४३
सरस अन्ने नहीं, मनने प्रसन्नभाव जो—उत्त० अ० २ गा० ३६

रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी
सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो
} उत्त० अ० ३५ गा० १३

अपूर्व अवसर० ······

१३ एम पराजय करीने चारित्र मोह नो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो—उत्त० अ० २६ गा० ६१
श्रेणी क्षपक तणी करी ने आरूढ़ता
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।
अपूर्व अवसर०······

१४ मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो,
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावु निज केवलज्ञान निधान जो—उत्त० अ० २९ गा० ७१
अपूर्व अवसर०······

१५. चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता, } उत्त० अ० २९ गा० ७१
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जो
अपूर्व अवसर०······

१६ वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां,
बली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे—उत्त० अ० २९ गा० ७२
आयुष्य पूर्णे मटि ए दैहिक पात्र जो
अपूर्व अवसर०······

१७. मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकल पुद्गल-सम्बन्ध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं—उत्त० अ० २९ गा० ७२
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जो।
अपूर्व अवसर०······

१८. एक परमाणुमात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलकरहित अडोल स्वरूप जो,
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय—उत्त० अ० २९ गा० ७२
अगुरुलघु अमूर्त सहज पदरूप जो।
अपूर्व अवसर०······

१९. पूर्व प्रयोगादि कारणनां योगथी—उत्त० अ० २९ गा० ७३
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो—उत्त० अ० ३६ गा० ६७
सादि अनन्त अनन्तसमाधि सुखमां } उत्त० अ० ३६ गा० ६६
अनन्तदर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो
अपूर्व अवसर०······

२०. जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञान मां
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।
अपूर्व अवसर०······

(आचा० १, अ० ५, उ० ६, सू० ६)

२१ एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो
तो पण निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो
प्रभु-आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो
अपूर्व अवसर०······

(उत्त० अ० २९ गा० २५ तथा आचा० १, अ० १, उ० १, सू० २)

—×—

सर्वथा सौ सुखी थाओ,
समता सौ समाचारो;
सर्वत्र दिव्यता व्यापो,
सर्वत्र शान्ति विस्तरो।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—'सन्तबाल'

आ० = आचारांग, उत्त० = उत्तराध्ययन और दश० से दशवैकालिक सूत्र समझना।

गा० = गाथा, सू० = सूत्र, अ० = अध्ययन, उ० = उद्देशक समझना।